: प्रकाशक :
श्रीदलसुखभाई मालवणिया, मंत्री, पण्डित सुखलालजी सन्मान समिति,
गुजरात विद्यासभा, भद्र अहमदावाद

: मुद्रक :
जयंती दलाल : वसंत प्रिन्टिंग प्रेस : घीकांटा
घेलाभाईनी वाडी : अहमदावाद

ई. स. १९५७
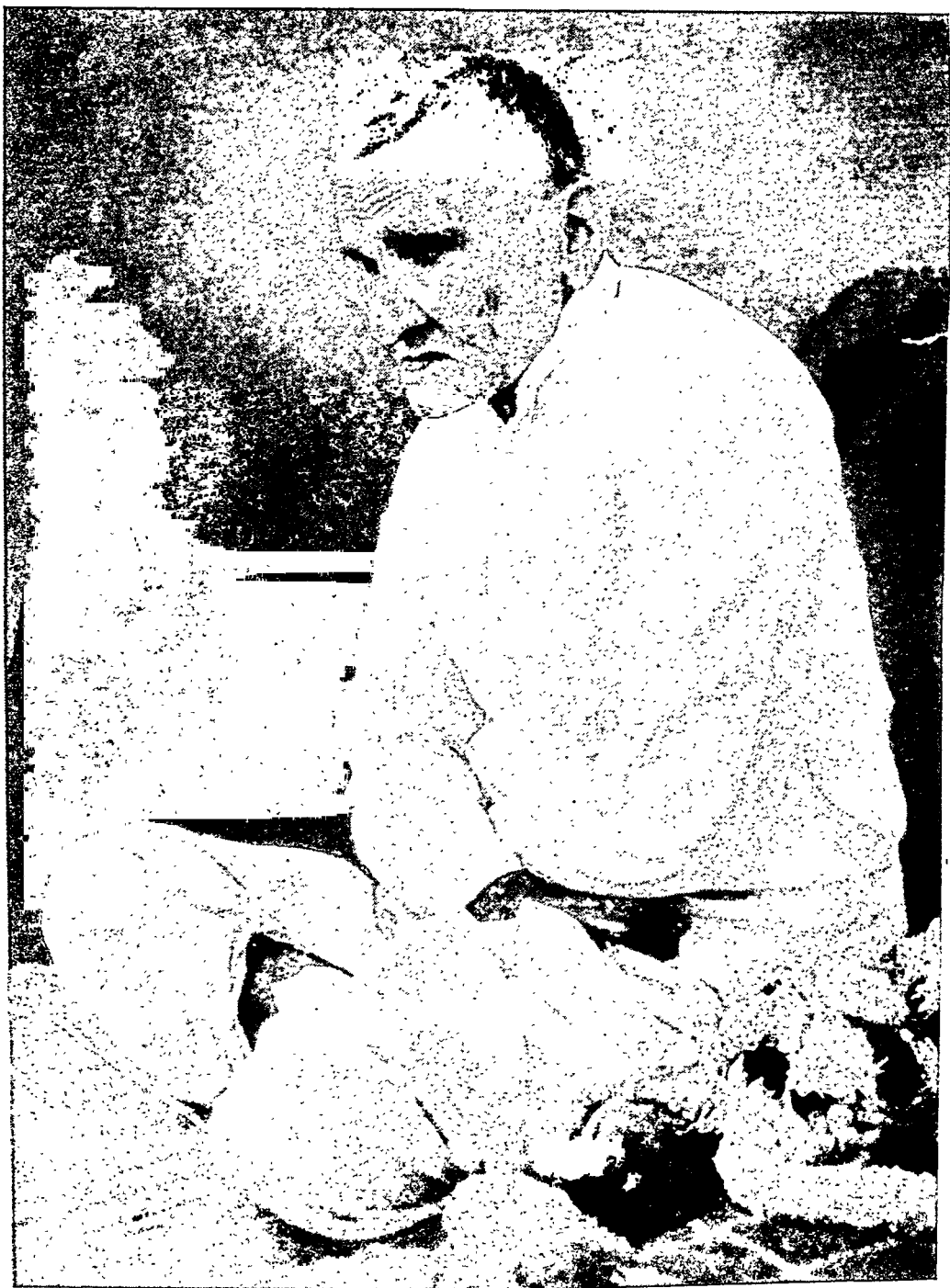
पंडित सुखलालजी
(ता. ८–१२–१९५५)

पंडित सुखलालजी

[संक्षिप्त परिचय]
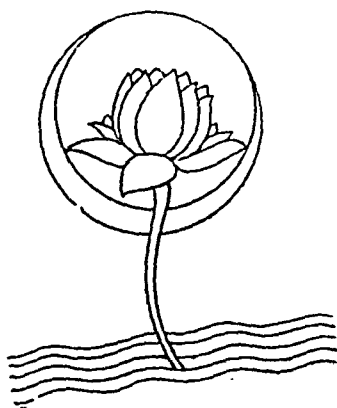
सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरइ ।

–सत्यकी आज्ञा पर खड़ा हुआ बुद्धिमान मृत्युको पार कर जाता है ।

—श्री आचारांगसूत्र ।

o
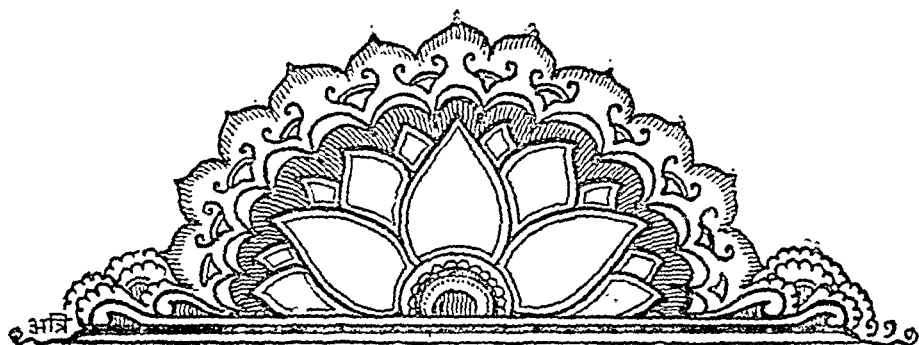
एशिया महाद्वीप सदा ही धर्मप्रवर्तकों, तत्त्वचिंतकों और साधकोंकी जन्मभूमि रहा है। इस महागौरवको निभाये रखनेका श्रेय विशेषतः भारतवर्षको है। पुराणयुगमें भगवान रामचंद्र और कर्मयोगी श्रीकृष्ण, इतिहासकालमें भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध और अर्वाचीन युगमें महात्मा गांधी, योगी श्री. अरविन्द एवं संत विनोबा जैसे युगपुरुषोंको जन्म देकर भारतवर्षने धर्मचिंतनके क्षेत्रमें गुरुपद प्राप्त किया है। युगोंसे भारतवर्षने इस प्रकारके अनेक तत्त्वचिंतकों, शास्त्रप्रणेताओं, साधकों, योगियों और विद्वानोंको जगती-तल पर सादर समर्पित किया है।

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी उन्हींमेंसे एक हैं। वे सदा ही सत्यशोधक, जीवनसाधक, पुरुषार्थपरायण तथा ज्ञान-पिपासु रहे हैं। इस पंडित पुरुषने ज्ञान-मार्ग पर अपने अंतर्लोकको प्रकाशित कर उज्ज्वल चरित्र द्वारा जीवनको निर्मल और ऊर्ध्वगामी बनानेका निरंतर प्रयत्न किया है। इनकी साधना सामंजस्यपूर्ण है, इनकी प्रज्ञा सत्यमूलक तथा समन्वयगामी है और इनका जीवन त्याग, तितिक्षा एवं संयमयुक्त है।

जन्म, कुटुम्ब और बाल्यावस्था

पंडितजीकी जन्मभूमि वही सौराष्ट्र है जहां कई संतों, वीरों और साहसिकोंने जन्म लिया है। झालावाड जिलेके सुरेन्द्रनगरसे छ मीलके फ़ासले पर लीमली नामक एक छोटेसे गाँवमें संवत् १९३७ के मार्गशीर्षकी शुक्ला पंचमी, तदनुसार ता० ८-१२-१८८० के दिन पंडितजीका जन्म हुआ था। इनके पिताजीका नाम संघजीभाई था। वे विसाश्रीमाली ज्ञातिके जैन थे। उनका उपनाम संघवी और गोत्र धाकड (धर्कट) था। जब पंडितजी चार ही

सालके थे, तब उनकी माताजीका स्वर्गवास हो गया। घरमें विमाताका आगमन हुआ। उनका नाम था जड़ीबाई। वे जितनी सुंदर थीं, अुतनी ही प्रसन्नवदना भी थीं। स्नेह और सौजन्य तो उनमें कूट कूटकर भरा हुआ था। वे मानो मातृत्वकी साक्षात् मूर्ति ही थीं। पंडितजीका कहना है कि कई वर्षों बाद उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे उनकी विमाता थीं। इतना उनका मृदु व्यवहार था!

पारिवारिक व्यवस्था और बच्चोंकी देखभालका सारा काम मूळजी काका करते थे। वे थे तो घरके नौकर, पर कुटुम्बके एक सदस्य ही बन गये थे। उनमें बड़ी वफ़ादारी और ईमानदारी थी। बालक सुखलालको तो वे अपने बेटेसे भी ज़्यादा चाहते थे। उन्हें पंडितजी आज भी 'पुरुषमाता' के स्नेहभरे नामसे स्मरण करते हैं।

बचपनसे ही सुखलालको खेल-कूदका बड़ा शौक था। वे बड़े निर्भीक और साहसी थे। एक बार तैरना सीखनेका जीमें आया तो बिना किसीकी मदद मांगे जाकर कुएँमें कूद पड़े और अपने तईं तैरना सीख लिया। घुड़सवारी भी उन्हें बहुत पसंद थी। सरकसके सवारकी तरह घोड़ेकी पीठ पर खड़े होकर उसे दौड़ाने में उन्हें बड़ा मज़ा आता था। कई बार वे इसमें मुँहके बल गिरे भी थे।

एक बार सुखलाल अपने दो मित्रोंके साथ तालाब पर नहाने चले। बातें करते करते तीनों मित्रोंमें यह होड़ लगी कि उलटे पाँव चलकर कौन सबसे पहले तालाब पर पहुँचता है। बस! अब क्या था? लगे सुखलाल तो उलटे पाँव चलने। थोड़ी ही देरमें वे थूहरके कांटोंमें जा गिरे। सारे शरीरमें बुरी तरह कांटे चुभ गये। वे वहीं बेहोश हो गये। उन्हें घर ले जाया गया। बड़ी मुश्किलसे चार-छः घंटोंके बाद जब वे होशमें आये, तो क्या देखते हैं कि सारा बदन कांटोंसे बिंध गया है। तेल लगाया जा रहा है और नाई एक-एक कर कांटे निकाल रहा है। पर उन्होंने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। लगे बढ़ बढ़कर अपनी शौर्य-गाथा गाने। ऐसे साहसप्रिय और क्रीडाप्रिय सुखलाल परिश्रमी, आज्ञाकारी तथा स्वावलंबी भी कम नहीं थे। विवेक और व्यवस्था उनके प्रत्येक कार्यमें दीख पड़ती थी। दूसरोंका काम करनेको वे सदा तत्पर रहते थे। पढ़ाईमें वे कभी लापरवाही नहीं करते थे। उनमें आलस्य नामको न था। बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि कठिनतम विषय भी उनके लिये सरल-सा था। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि जो भी वे पढ़ते, तुरंत कंठस्थ

हो जाता। पुस्तकोंकी देखभाल इतनी अधिक करते थे कि सालभरके उपयोगके बाद भी वे बिलकुल नई-सी रहती थीं।

गुजराती सातवीं श्रेणी पास करनेके बाद सुखलालकी इच्छा अंग्रेज़ी पढ़नेकी हुई, पर उनके अभिभावकोंने तो यह सोचा कि इस होशियार लड़केको पढ़ाईके बदले व्यापारमें लगा दिया जाय तो थोड़े ही अरसेमें दुकानका बोझ उठानेमें यह अच्छा साझीदार बनेगा। अतः उन्हें दुकान पर बैठना पड़ा।

धीरे धीरे सुखलाल सफल व्यापारी बनने लगे। व्यापारमें उन दिनों बड़ी तेज़ी थी। परिवारके व्यवहार भी ढंगसे चल रहे थे। सगाई, शादी, मौत और जन्मके-मौकों पर पैसा पानीकी तरह बहाया जाता था। अतिथि-सत्कार और तिथि-त्यौहार पर कुछ भी बाक़ी न रखा जाता था। पंडितजी कहते हैं — इन सबको मैं देखा करता। यह सब पसंद भी बहुत आता था। पर न जाने क्यों मनके किसी कोनेसे हल्की-सी आवाज़ उठती थी कि यह सब ठीक तो नहीं हो रहा है। पढ़ना-लिखना छोड़कर इस प्रकारके खर्चीले रिवाजोंमें लगे रहनेसे कोई भला नहीं होगा। शायद यह किसी अगम्य भावीका इंगित था।

चौदह वर्षकी आयुमें विमाताका भी अवसान हो गया। सुखलालकी सगाई तो बचपन ही में हो गई थी। वि० सं० १९५२में पंद्रह वर्षकी अवस्थामें विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं, पर ससुरालकी किसी कठिनाईके कारण उस वर्ष विवाह स्थगित करना पड़ा। उस समय किसीको यह ज्ञात नहीं था कि वह विवाह सदाके लिये स्थगित रहेगा।

चेचककी बीमारी

व्यापारमें हाथ बँटानेवाले सुखलाल सारे परिवारकी आशा बन गये थे, किन्तु मधुर लगनेवाली आशा कई बार ठगिनी बनकर धोखा दे जाती है। पंडितजीके परिवारको भी यही अनुभव हुआ। वि. सं. १९५३ में १६ वर्षके किशोर सुखलाल चेचकके भयंकर रोगके शिकार हुए। शरीरके रोम रोममें यह व्याधि परिव्याप्त हो गई। क्षण क्षणमें मृत्युका साक्षात्कार होने लगा। जीवन-मरणका भीषण द्वन्द्व-युद्ध छिड़ा। अंतमें सुखलाल विजयी हुए, पर इसमें वे अपनी आँखोंका प्रकाश खो बैठे। अपनी विजय उन्हें पराजयसे भी विशेष असह्य हो गई, और जीवन मृत्युसे भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हुआ। नेत्रोंके अंधकारने उनकी अंतरात्माको निराशा एवं शून्यतामें निमग्न कर दिया।

पर दुःखकी सच्ची औषधि समय है। कुछ दिन बीतने पर सुखलाल स्वस्थ हुए। खोया हुआ आंखोंका बाह्य प्रकाश धीरे धीरे अंतर्लोकमें प्रवेश

करने लगा। और फिर तो उनकी विकलता, निराशा तथा शून्यता विनष्ट हो गई। उनके स्थान पर स्वस्थता एवं शांतिका सूर्योदय हुआ। अव युवक सुखलाल का जीवन-मंत्र वना—'**न दैन्यं, न पलायनम्।**' महारथी कर्णकी भाँति '**मदायत्तं तु पौरुषं**' के अमोघ अस्त्रसे भाग्यके साथ लड़नेका दृढ़ संकल्प कर लिया। अपनी विपदाओंको उन्होंने विकासका साधन वनाया। '**विपदः सन्तु नः शश्वत्**'—माता कुन्ती द्वारा व्यक्त महाभारतकारके ये शब्द आज भी उन्हें उतने ही प्रिय और प्रेरक हैं। सुखलालने चेचककी वीमारीसे मुक्त होकर अपना जीवन-प्रवाह वदल दिया। सफल व्यापारी होनेवाले सुखलाल विद्योपार्जनके प्रति उन्मुख हुए, और जन्मसे जो वैश्य थे वे कर्मसे अव ब्राह्मण (सरस्वती-पुत्र) वनने लगे। १६ वर्षकी वयमें द्विजत्वके ये नवीन संस्कार! लीलाधरकी लीला ही तो है।

विद्या-साधनाके मार्ग पर

सुखलालका अंतर्मुखी मन आत्माके प्रति गमन करने लगा। उन्होंने विद्या-साधनाका मार्ग अपनाया। अपनी जिज्ञासा-तुष्टिके लिये वे साधु-साध्वी और संत-साधकोंका सत्संग करने लगे। इस सत्संगके दो शुभ परिणाम आये। एक ओर धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे सुखलालकी प्रज्ञामें अभिवृद्धि होने लगी और दूसरी ओर व्रत, तप और नियमपालन द्वारा उनका जीवन संयमी एवं संपन्न वनने लगा।

वि० सं० १९५३ से १९६० तकका ६-७ वर्षका काल सुखलालके जीवनमें संक्रांति-काल था। उस अवधिमें एक वार एक मुनिराजके संसर्गसे सुखलाल मन-अवधानके प्रयोगकी ओर मुड़े। एक साथ ही सौ-पचास वातें याद रखकर उनका व्यवस्थित उत्तर देना कितना आश्चर्यजनक है! किन्तु अल्प समयमें ही सुखलालने अनुभव किया कि यह प्रयोग न केवल विद्योपार्जनमें ही वाधक है, अपितु उससे वुद्धिमें वंध्यत्व तथा जिज्ञासावृत्तिमें शिथिलता आ जाती है। फलतः तत्काल ही इस प्रयोगको छोड़कर वे विद्या-साधनामें संलग्न हो गये। आज भी यदि कोई अवधान सीखनेकी वात छेड़ता है तो पंडितजी स्पष्टतः कहते हैं कि वुद्धिको वंध्या और जिज्ञासाको कुंठित वनानेका यह मार्ग है।

इसी प्रकार एक वार सुखलालको मंत्र-तंत्र सीखनेकी इच्छा हो आई। अवकाश तो था ही; वौद्धिक प्रयोग करनेका साहस भी था। सोचा — सांपका जहर उतार सकें या अभीप्सित वस्तु प्राप्त कर सकें तो क्या ही अच्छा? लगे मंत्र-तंत्र सीखने, किन्तु अल्पानुभवसे ही उन्हें यह प्रतीति हो गई कि इन

सबमें सत्यांश तो क्वचित् ही है, विशेषतः दंभ और मिथ्यात्व है। उसमें अज्ञान, अंधश्रद्धा तथा वहमको विशेष बल मिलता है। उनका परित्याग कर वे फिर जीवन-साधनामें लग गये—ज्ञानमार्गकी ओर प्रवृत्त हुए।

वि० सं० १९६० तक वे लीमली गांवमें यथासंभव ज्ञानोपार्जन करते रहे। अर्धमागधीके आगम तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-मनन कर उन्हें कण्ठस्थ कर लिया। साथ ही अनेक संस्कृत पुस्तकों तथा रासों, स्तवनों और सज्झायों जैसी असंख्य गुजराती कृतियोंको भी जवानी याद कर लिया। पूज्य लाधाजी स्वामी और उनके विद्वान शिष्य पूज्य उत्तमचंदजी स्वामीने उन्हें सारस्वत-व्याकरण पढ़ाया, पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। लीमलीमें नये अभ्यासकी सुविधा नहीं थी। उन्हें इने दिनों यह भी अनुभव होने लगा कि अपने समस्त शास्त्र-ज्ञानको व्यवस्थित करनेके लिये संस्कृत भाषाका सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। संस्कृतके विशिष्ट-अध्यापनकी सुविधा लीमलीमें थी ही नहीं। सुखलाल इस अभावसे बेचैन रहने लगे। प्रश्न यह था कि अब किया क्या जाय?

काशीमें विद्याध्ययन

दैवयोगसे उसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पूज्य मुनि महाराज श्री. धर्मविजयजी (शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्री. विजयधर्मसूरीश्वरजी) ने जैन विद्यार्थियोंको संस्कृत-प्राकृत भाषाके पंडित बनानेके लिये काशीमें श्री. यशोविजय जैन संस्कृत पाठशाला स्थापित की है। इससे सुखलाल अत्यंत प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपने कुटुम्बी-जनोंसे गुप्त पत्रव्यवहार करके बनारसमें अध्ययन करनेकी महाराजजीसे अनुमति प्राप्त कर ली, पर दृष्टिविहीन इस युवकको बनारस तक भेजनेको कुटुम्बी-जन राजी हों कैसे? मगर सुखलालका मन तो अपने संकल्प पर दृढ था। ज्ञान-पिपासा इतनी अधिक तीव्र थी कि उसे कोई दबा नहीं सकता था। साहस करनेकी वृत्ति तो जन्मजात थी ही। फलतः वे पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए। एक दिन उन्होंने अपने अभिभावकोंसे कहा—"अब मुझे आपमेंसे कोई रोक नहीं सकता। मैं बनारस जरूर जाऊँगा। अगर आप लोगोंने स्वीकृति नहीं दी तो बड़ा अनिष्ट होगा।" घरके सभी लोग चुप थे।

एक दिन पंडितजी अपने साथी नानालालके साथ बनारसके लिये रवाना हो ही गये। बिलकुल अनजाना प्रदेश, बहुत लम्बी यात्रा और भला-भोला साथी—इन सबके कारण उन्हें यात्रामें बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। एक बार

शौचादिके लिये एक स्टेशन पर उतरे, तो गाड़ी ही छूट गई। पर ज्यों-त्यों कर वे अंतमें काशी पहुँचे।

पंडितजीके जीवनके दो प्रेरक वल हैं — जाग्रत जिज्ञासा और अविरत प्रयत्न। इन दोनों गुणों के कारण उनका जीवन सदा नवीन एव उल्लासपूर्ण रहा है। अपनी जिज्ञासा-तुष्टिके लिये वे किसी भी प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे नहीं हिचकिचाते।

भूखा ज्यों भोजनमें लग जाता है, काशी पहुँचकर सुखलाल त्यों अध्ययनमें संलग्न हो गये। वि० सं० १९६३ तक, मात्र तीन ही वर्षमें, उन्होंने अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेमव्याकरण कंठस्थ कर लिया। (पंडितजीको आज भी समग्र व्याकरण टीकाके साथ स्मरण है।) व्याकरणके साथ साथ न्याय और साहित्यका भी अध्ययन आरंभ कर दिया। इससे पंडितजीकी जिज्ञासा और वढ़ने लगी। वे नये नये पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुए। जव पाठशालाका वातावरण उन्हें अध्ययनके अधिक अनुकूल नहीं जँचा, तो वे उससे मुक्त होकर स्वतंत्र रूपसे गंगाजीके तटपर भदैनी घाट पर रहने लगे। उनके साथ उनके मित्र व्रजलालजी भी थे। वनारस जैसे सुदूर प्रदेशमें पंडितजीका कोई सम्वन्धी नहीं था, खर्चकी पूरी व्यवस्था भी नहीं थी। जिज्ञासा-वृत्ति अदम्य थी, अतः आये दिन उन्हें विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ता था। आर्थिक संकट तो इस स्वप्नदर्शी नवयुवकको वेहद तंग करता था। अंतमें सोचा—यदि भारतमें व्ययकी व्यवस्था नहीं हुई तो अमरिकाके मि० रोकफेलरसे, जो अनेक युवकोंको छात्रवृत्तियाँ दिया करते हैं, आर्थिक सहायता प्राप्त कर अमरिका पहुँचेंगे। पर दैवयोगसे आवश्यक धन प्राप्त हो गया और अमरिका जानेका विचार सदाके लिये छूट गया।

सुखलाल अव विद्योपार्जनमें विशेष कटिवद्ध हुए। उन दिनों किसी वैश्य विद्यार्थीके लिये व्राह्मण पंडितसे संस्कृत साहित्यका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य था, पर सुखलाल हताश होनेवाले व्यक्ति नहीं थे। चिलचिलाती हुई धूपमें या कड़ाके की सर्दीमें वे रोज आठ-दस मील पैदल चलकर पंडितोंके घर पहुँचते, सेवा-शुश्रूषा कर उन्हें संतुष्ट करते और ज्यों-त्यों कर अपना हेतु सिद्ध करते। इस प्रकार अविरत परिश्रमसे छात्र सुखलाल पंडित सुखलालजी वनने लगे।

गंगा-तटके इस निवास-कालके वीच कभी कभी पंडितजी अपने एक हाथसे रस्सीके एक सिरेको वांधकर और दूसरा सिरा किसी दूसरेको सौंपकर गंगा-

स्नानका आनंद लेते थे। एक बार तो वे बिना रस्सी बांधे नदीमें कूद पड़े और लगे डूबने, किन्तु संयोगसे उनके मित्र व्रजलाल वहाँ समय पर आ पहुँचे और उन्हें बचा लिया।

वि० सं० १९६६में सुखलालजी न्यायाचार्यकी परीक्षामें संमिलित हुए, पर दुर्भाग्यसे 'लेखक' निकम्मा मिला। सुखलालजी लिखाए कुछ, और वह लिखे कुछ। अंतमें उन्होंने अपनी कठिनाई कालेजके प्रिन्सिपल श्री० वेनिस साहबसे कही। वे अंग्रेज विद्वान सहृदय थे। विद्यार्थीकी वास्तविक स्थितिको समझकर उन्होंने तुरंत मौखिक परीक्षाकी व्यवस्था कर दी और स्वयं भी परीक्षकोंके साथ बैठे। पंडितजीके उत्तर सुनकर श्री० वेनिस साहब अत्यंत मुग्ध हो गये और उन परीक्षकोंमेंसे एक श्री० वामाचरण भट्टाचार्य तो इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्होंने सुखलालजीसे अपने यहाँ पढ़ने आनेको कहा। यह पंडितजीकी प्रतिभाका एक उदाहरण है।

क्रमशः सुखलालजीने 'न्यायाचार्य' उपाधिके तीन खंडोंकी परीक्षा भी दे दी, परंतु वि० सं० १९६९ में अंतिम खंडकी परीक्षाके समय परीक्षकोंके ऐसे कटु अनुभव हुए कि परीक्षाके लिये उस कालेज-भवनमें फिर कभी पैर न रखनेका संकल्प कर पंडितजी बाहर निकल गये। इस प्रसंगके लगभग २२–२३ वर्ष पश्चात् वि० सं० १९९२ में पाठ्यक्रम-संशोधन समितिके एक सदस्य की हैसियतसे उन्होंने उस भवनमें सम्मानपूर्वक पुनः प्रवेश किया!

मिथिलाकी यात्रा

वि० सं० १९६६–६७ तक पंडितजीने बनारसमें जो भी ज्ञान प्राप्त हो सकता था, प्राप्त कर लिया; किन्तु उनकी जिज्ञासा और ज्ञानपिपासा तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। उनका मन अब विहारके विद्याधाम मिथिलाकी ओर दौड़ने लगा।

मिथिला प्रदेश यानी दरिद्रताकी भूमि; किन्तु वहाँके सरस्वती-उपासक, ज्ञान-तपस्वी पंडितगण विद्याके ऐसे व्यासंगी हैं कि वे अध्ययनमें अपनी दरिद्रताका दुःख ही भूल जाते हैं। 'नव्यन्याय'का विशेष अध्ययन करनेके लिये पंडितजी बनारससे अब समय-समय पर मिथिला जाने लगे। मिथिलामें भी उन्होंने कम कष्ट नहीं झेला। वहाँ वे भोजनमें पाते थे–दाल, भात और साग। कभी अगर दहीं मिल गया तो षड्रस भोजन! मिथिलाकी सर्दी और बरसातका मुकाबला करना लोहेके चने चबाना था। फूसकी झोंपडीमें घासके

विस्तर पर सोकर सुखलालजीने सब कुछ सहा और अपने अभीष्ट मार्ग पर डटे रहे।

पंडितजीके पास एक गरम स्वीटर था। जीवनमें पहली बार उन्होंने उसे खरीदा था। कड़ाके की सर्दी थी। गुरुजीने स्वीटरकी बड़ी तारीफ़ की। पंडितजी ताड़ गये। सर्दीसे खुदके ठिठुरनेकी परवाह न कर उन्होंने वह स्वीटर गुरुजीकी सेवामें सादर समर्पित कर दिया, और खुदने घासके विस्तर और जर्जरित कंवल पर सर्दीके दिन काट दिये।

शुरू-शुरूमें पंडितजी मिथिलाके तीन चार गाँवोंमें अध्ययन-व्यवस्थाके लिये घूमे। अंतमें उन्हें दरभंगामें महामहोपाध्याय श्री० बालकृष्ण मिश्र नामक गुरु मिल गये, जिनकी कृपासे उनका परिश्रम सफल हुआ। मिश्रजी पंडितजीसे उम्रमें छोटे थे, पर न्यायशास्त्र और सभी दर्शनोंके प्रखर विद्वान थे। साथ ही वे कवि भी थे; और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे अत्यंत सहृदय एवं सज्जन थे। पंडितजी उन्हें पाकर कृतकृत्य हुए और गुरुजी भी ऐसे पंडित-शिष्यको पाकर अत्यंत प्रसन्न हुए।

तत्पश्चात् श्री० बालकृष्ण मिश्र वनारसके ओरिएन्टल कालेजके प्रिन्सिपल नियुक्त हुए। उनकी सिफारिशसे महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी और आचार्य आनंदशंकर ध्रुवने सन् १९३३ में पंडितजीको जैन-दर्शनका अध्यापक नियुक्त किया। वनारसमें अध्यापक होते हुए भी पंडितजी श्री० बालकृष्ण मिश्रके वर्गमें यदा कदा उपस्थित रहा करते थे। यह था पंडितजीका जीवंत विद्यार्थी-भाव। आज भी पंडितजीके मन पर इन गुरुवर्यके पांडित्य एवं सौजन्यका वडा भारी प्रभाव है। उनके नाम-स्मरणसे ही पंडितजी भक्ति, श्रद्धा एवं आभारकी भावनासे गद्गद हो जाते हैं।

इस प्रकार वि० संवत् १९६० से १९६९ तकके नौ वर्ष पंडितजीने गंभीर अध्ययनमें व्यतीत किये थे। उस समय उनकी अवस्था ३२ वर्षकी थी। उसके बाद अपने उपार्जित ज्ञानको विद्यार्थीवर्गमें वितरित करनेका पुण्य कार्य उन्होंने शुरु किया।

यहाँ एक वस्तु विशेष उल्लेखनीय है कि अपने अध्ययन-कालमें पंडितजी मात्र विद्योपार्जनमें ही नहीं लगे रहे। वंगभंगसे प्रारंभ होकर विविध रूपोंमें विकसित होनेवाले हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनसे भी वे पूर्णतः अवगत रहे। तदुपरान्त देशकी सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं पर भी उन्होंने चिंतन

किया। इस प्रकार पंडितजीकी दृष्टि शुरूसे ही व्यापक थी। निःसंदेह यह उनकी जाग्रत जिज्ञासाका ही फल था।

अध्यापन, ग्रंथरचना तथा अन्य प्रवृत्तियाँ

श्री० बाबू दयालचंदजी जौहरी आदि उत्साही एवं भावनाशील नवयुवकोंसे आकर्षित होकर अब पंडितजीने बनारसके बदले आगराको अपना प्रवृत्ति-केन्द्र बनाया। वहांसे वे आसपासके शहरोंमें मुनियोंको पढ़ानेके लिये चार-छः मास जा आते और फिर आगरा वापस आकर अध्ययन-अध्यापन करते। इस प्रकार तीन-चार वर्ष बीते। इतनेमें महात्मा गांधीके प्रसिद्ध सत्याग्रह-संग्रामकी दुंदुभि देशके कोने-कोनेमें बजने लगी। पंडितजी उससे अलिप्त कैसे रह सकते थे? उन्हें भी बापूके कर्मयोगने बेहद आकर्षित किया। प्रारंभमें अहमदाबादके कोचरब आश्रममें और तत्पश्चात् सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीमें बापूके साथ रहने पहुँचे। वहाँ सबके साथ चक्की पीसते और अन्य श्रम-कार्य करते। गाँधीजीके साथ चक्की पीसते पीसते हाथमें फफोले उठनेकी बात आज भी पण्डितजी आनन्दके साथ याद करते हैं। किन्तु थोड़े ही समयके बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि उनके जैसे पराधीन व्यक्तिके लिये बापूके कर्मयोगका पूर्णतः अनुसरण संभव नहीं है। इस वास्ते विवश होकर फिर वे आगरा लौटे, पर उन पर बापूका स्थायी प्रभाव तो पड़ा ही। वे सादगी और स्वावलंबनके पुजारी बने। पीसना, बर्तन मलना, सफ़ाई करना वगैरह स्वावलंबनके कामोंको करनेमें उन्हें आनंद आने लगा। यह वि० सं० १९७३ की बात है। इन दिनों जीवनको विशेष संयमी बनानेके लिये पंडितजीने पाँच वर्ष तक घी-दूधका भी त्याग किया और खाने-पीनेकी झंझटसे छुट्टी पाने और ज़्यादा खर्चसे बचनेके लिये उन्होंने अपनी खुराकको बिलकुल सादा बना लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सन् १९२० में पंडितजीको बवासीरके भयंकर रोगने आ घेरा और वे मरते-मरते ज्यों-त्योंकर बचे। तबसे पंडितजीने शरीर-सँभालनेका पदार्थपाठ सीखा।

अबतक तो पंडितजी अध्यापन-कार्य ही करते थे, पर वि० सं० १९७४ में एक बार शांतमूर्ति सन्मित्र मुनि श्री कर्पूरविजयजीने पंडितजीके मित्र व्रजलालजीसे कहा कि-"आप तो कुछ लिख सकते हैं, फिर आप लिखते क्यों नहीं? सुखलालजी लिख नहीं सकते, इसलिये वे पंडितोंको तैयार करनेका कार्य करें।" पंडितजीको यह बात लग गई। उन्हें अपनी विवशता बहुत खटकी। उन्होंने सोचा-"मैं स्वयं लिख नहीं सकता तो क्या हुआ?

दूसरेको लिखाकर तो ग्रंथ-रचना की जा सकती है!" तुरंत ही उन्होंने कर्मतत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्राकृत भाषाका 'कर्मग्रंथ' उठाया। घोर परिश्रम कर उस कठिन ग्रंथका अनुवाद, विवेचन और अभ्यासपूर्ण प्रस्तावना तैयार कर छपवाया। तब तो सभी विद्वान दांतों तले उँगली दबाने लगे। इस प्रकार पंडितजीकी लेखन-प्रतिभाका पंडितवर्गको प्रथम परिचय प्राप्त हुआ। उसीके साथ पंडितजीके ग्रन्थ-निर्माण की परंपरा आरंभ हो गई, जो अक्षुण्ण रूपसे आज तक चल रही है।

तीन वर्षके पश्चात् पंडितजीने 'सन्मतितर्क' जैसे महान दार्शनिक ग्रंथका संपादन-कार्य आगरामें रहकर आरंभ किया, पर उसी समय गांधीजीने अहमदाबादमें गुजरात विद्यापीठकी स्थापना की और पंडितजीके मित्रोंने उन्हें विद्यापीठके पुरातत्त्व मंदिरमें भारतीय दर्शनके अध्यापक-पदको ग्रहण करनेका अनुरोध किया। पंडितजीको गांधीजीके प्रति आकर्षण तो पहले से था ही, मनपसंद काम करते हुए गांधीजीके संसर्गमें रहनेका यह सुयोग पाकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए और संवत् १९७८ में अहमदाबाद जाकर गुजरात विद्यापीठके अध्यापक बन गये।

गुजरात विद्यापीठ और साबरमती आश्रम उन दिनों राष्ट्रीय तीर्थस्थान माने जाते थे। विद्यापीठमें अध्यापन-कार्यके लिये भारतभरके चोटीके विद्वान एकत्रित हुए थे। श्री० काका कालेलकर, आचार्य कृपालानी, आचार्य गिडवानी, मुनि जिनविजयजी, अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी, श्री० किशोरलालभाई मशरूवाला, प्रो० रामनारायण पाठक, श्री० रसिकलाल परीख, पं० बेचरदासजी, श्री० नानाभाई भट्ट, श्री० नरहरिभाई परीख इत्यादि अनेक विद्वानोंने अपनी बहुमूल्य सेवाएँ निःस्वार्थभावसे विद्यापीठको समर्पित की थीं। पंडितजी भी उनमें संमिलित हुए। यह सुयोग उन्हें बहुत पसंद आया।

विद्यापीठमें रहकर पंडितजीने अध्यापनके साथ-साथ अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बीसे पाली भाषाका अध्ययन भी किया। तदुपरांत पं० बेचरदासजीके सहयोगसे ८-९ वर्षका अविरत परिश्रम कर 'सन्मतितर्क' के संपादनका भगीरथ कार्य सम्पन्न किया। विद्वानोंने उस ग्रंथकी (मूल पाँच भाग और छठा भाग अनुवाद, विवेचन तथा विस्तृत प्रस्तावना आदिका) मुक्तकंठसे प्रशंसा की। डॉ० हर्मन जेकोबी, प्रो० लोयमन और प्रो० ल्यूडर्स जैसे प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वानोंने भी उसकी तारीफ़ की। गांधीजीको भी उसके निर्माणसे बड़ा ही संतोष हुआ, और उन्होंने कहा—"इतना भारी परिश्रम

करनेके पश्चात् सुखलालजीको एकाध वर्षका विश्राम लेना चाहिए।" इतनेमें सन् '३० का ऐतिहासिक वर्ष आ पहुँचा। सारे देशमें स्वतंत्रता-संग्रामके नक्कारे बजने लगे। राष्ट्रीय आंदोलनमें संमिलित होनेका सबको आह्वान हुआ। प्रसिद्ध दांडीकूच प्रारंभ हुई, और गांधीजीके सभी साथी इस अहिंसक संग्रामके सैनिक बने। पंडितजी भी उसमें संमिलित होनेको अधीर हो उठे, पर उनके लिये तो यह संभव ही न था, अतः वे मन मसोसकर चुप रह गये। उन्होंने इस समयका सदुपयोग एक और सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किया। अंग्रेजीमें विविध विषयके उच्चकोटिके गंभीर साहित्यका प्रकाशन देखकर पंडितजीको अंग्रेजीकी अपनी अज्ञानता बहुत खटकी। उन्होंने कटिबद्ध होकर सन् ३०-३१ के वे दिन अंग्रेजी-अध्ययनमें बिताये। इसी सिलसिलेमें वे तीन मासके लिये शांतिनिकेतन भी रह आये। अंग्रेजीकी अच्छी योग्यता पाकर ही उन्होंने दम लिया।

सन् १९३३ में पंडितजी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटीमें जैन-दर्शनके अध्यापक नियुक्त हुए। दस वर्ष तक इस स्थान पर कार्य करनेके पश्चात् सन् १९४४ में वे निवृत्त हुए। इस दस वर्षकी अवधिमें पंडितजीने अनेक विद्वानोंको, जिन्हें पंडितजी 'चेतनग्रंथ' कहते हैं, तैयार किया और कई ग्रंथोका संपादन किया।

निवृत्तिके समय हिन्दू विश्वविद्यालय बनारसके तत्कालीन वाइस-चान्सलर और वर्तमान उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णने यूनिवर्सिटीमें ही ग्रन्थ-संपादनका महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपने और एतदर्थ आवश्यक धनकी व्यवस्था कर देनेका पंडितजीके सामने प्रस्ताव रखा, पर पंडितजीका मन अब गुजरातकी ओर खींचा जा रहा था, अतः उसे वे स्वीकार न कर सके।

इससे पूर्व भी कलकत्ता यूनिवर्सिटीके तत्कालीन वाइस-चांसलर श्री० श्यामाप्रसाद मुखर्जीने सर आशुतोष चेयरके जैन-दर्शनके अध्यापकका कार्य करनेकी पंडितजीसे प्रार्थना की थी, पर पंडितजीने उसमें भी सविनय अपनी असमर्थता प्रदर्शित की थी।

समन्वयसाधक पांडित्य

पंडितजीके अध्यापन एवं साहित्य-सर्जनकी मुख्य तीन विशेषताएँ हैं :—

(१) "**नामूलं लिख्यते किंचित्**"—जो कुछ भी पढ़ाना या लिखना हो वह आधारभूत ही होना चाहिए और उसमें अल्पोक्ति, अतिशयोक्ति या कल्पित उक्तिका तनिक भी समावेश नहीं होना चाहिये।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि यानी सत्यशोधक दृष्टि—किसी भी तथ्यका उपयोग अपने मान्य मतको सत्य सिद्ध करनेके हेतु नहीं, पर उस मतके सत्यस्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये ही होना चाहिये ।

(३) तुलनात्मक दृष्टि—किसी भी ग्रन्थके निर्माणमें कई प्रेरक बलोंने कार्य किया होता है । इसीके साथ उस ग्रन्थ पर पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थोंका प्रभाव होता है तथा उसमें अनेक अन्य उद्धरणोंके समाविष्ट होनेकी संभावना रहती है । इसके अतिरिक्त समान विषयके ग्रन्थोंमें, भाषा-भेदके होते हुए भी, विषय-निरूपणकी कुछ समानता अवश्य रहती है। इसलिये जिस व्यक्तिको सत्यकी खोज करनी है, उसे तुलनात्मक अध्ययनको अपनाना चाहिये।

पंडितजीने उपर्युक्त पद्धतिसे ग्रन्थ–रचना कर कई सांप्रदायिक रूढ़ियों और मान्यताओंको छिन्न-भिन्न कर दिया । कई नई स्थापनाएँ और मान्यताएँ प्रस्तुत कीं । इसलिये वे एक ओर समर्थ विद्वानोंके प्रीतिपात्र बने, तो दूसरी ओर पुराने रूढ़िवादियोंके कोपभाजन भी बने ।

पंडितजी संस्कृत, प्राकृत, पाली, गुजराती, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके ज्ञाता हैं । गुजराती, हिन्दी और संस्कृतमें उन्होंने ग्रन्थ–रचना की है । प्रारंभमें पंडितजी प्रस्तावना, टिप्पणियाँ आदि संस्कृतमें लिखवाते थे, किन्तु बादमें गुजराती और हिंदी जैसी लोकसुगम भाषाओंमें लिखनेका आग्रह रखा । जब किसी विषय पर लिखना होता है, तब पंडितजी तत्संबंधी कई ग्रन्थ पढ़वाते हैं, सुनते सुनते कई महत्त्वके उद्धरण नोट करवाते हैं और कुछ को याद भी रख लेते हैं । उसके बाद एकाग्र होकर स्वस्थतापूर्वक धाराप्रवाही रूपसे ग्रन्थ लिखवाते हैं । उनकी स्मरणशक्ति, कुशाग्र बुद्धि और विभिन्न विषयों को वैज्ञानिक ढंगसे प्रस्तुत करनेकी असाधारण क्षमता देखकर आश्चर्य होता है ।

पंडितजीका मुख्य विषय है: भारतीय दर्शनशास्त्र, और उसमें भी वे जैन-दर्शनके विशेषज्ञ हैं । उन्होंने सभी दर्शनोंके मूल तत्त्वोंका एक सच्चे अभ्यासीके रूपमें अभ्यास किया है। इसीलिए वे उनकी तात्त्विक मान्यताओंको जड़–मूलसे पकड़ सकते हैं। आज जबकि हमारे सामान्य पंडितोंको भारतीय दर्शनोंमें परस्पर विभेद नजर आता है, पंडितजीको उनमें समन्वय–साधक अभेद-तत्त्व दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार सर्व भारतीय दर्शनोंके मध्य समन्वयवादी दृष्टिकोणकी स्थापना ही दर्शनके क्षेत्रमें पंडितजीकी मौलिक देन है । आज तो वे भारतीय दर्शन ही नहीं, संसारके सभी दर्शनोंमें समन्वय–

साधक तत्त्वोंके दर्शन कर रहे हैं। अब पंडितजी सही अर्थोंमें 'सर्वदर्शन-समन्वयके समर्थ पंडित' बन गये हैं।

जीवनपद्धति

पंडितजी अधिकसे अधिक स्वावलंबनके पक्षपाती हैं। किसी पर अवलंबित रहना उन्हें रुचिकर नहीं। दूसरोंकी सेवा लेते समय उन्हें बड़ा क्षोभ होता है। परावलंबन उन्हें प्रिय नहीं है, अतः उन्होंने अपने जीवनको बहुत ही सादा और कम खर्चवाला बनाया है। अपरिग्रहके वे आग्रही हैं।

पंडितजीके भोजन, वाचन, लेखन या मुलाक़ातका कार्यक्रम सदा निश्चित रहता है। वे प्रत्येक कार्यमें नियमित रहनेका प्रयत्न करते रहते हैं। निरर्थक कालक्षेप तो उन्हें धनके दुर्व्ययसे भी विशेष असह्य है।

भोजनकी परिमितता और टहलनेकी नियमितताके ही कारण पंडितजी तन और मनसे स्वस्थ रहते हैं। वे मानते हैं कि भोजनके पश्चात् आलस्यका अनुभव होना कदापि उचित नहीं। शरीरका जितना पोषण हो उतना ही उससे काम भी लिया जाय। धन-संचयकी भाँति शरीर-संचय भी मनुष्यके पतनका कारण होता है। इस मान्यताके कारण वे शरीर-पुष्टिके लिये औषधि या विशेष भोजन कभी नहीं लेते। जब स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, तब अनिवार्य रूपसे ही दवाका आश्रय लेते हैं। सन् १९३८ में पंडितजीको एपेण्डिसाइटिसका ओपरेशन बम्बईमें करवाना पड़ा था। तबसे उन्हें यह विश्वास हो गया कि तबीयतकी ओरसे लापरवाह रहने पर ही ऐसी बीमारियाँ आ घेरती हैं। अब वे अपने खाने-पीनेमें ज़्यादा चौकन्ने हो गये हैं। कम-खर्चीको पंडितजी अपना मित्र मानते हैं, पर साथ ही अपने साथीके लिये सदा उदार रहते हैं। किसीका, किसी भी प्रकारका शोषण उन्हें पसंद नहीं। किसी जिज्ञासु या तत्त्वचिंतकको मिलकर पंडितजीको बहुत ख़ुशी होती है। अपनी या औरोंकी जिज्ञासा संतुष्ट करना उनका प्रिय कार्य है।

पंडिजीका जीवनमंत्र है—'औरोंकी ओर नहीं, अपनी ओर देखो। दूसरे क्या कहते हैं, इसकी चिंता न करो। अपने मनको स्वच्छ एवं स्वस्थ रखना हमारे हाथमें है।' एक बार प्रसंगवशात् उन्होंने कहा था, "यह बात हमें सदा याद रखनी चाहिये कि हम अपने मनको अपने वसमें रख सकते हैं। मन ही बंधन और मुक्तिका कारण है। मान लीजिये मैंने किसीसे रसका प्याला मँगवाया। रसका वह भरा हुआ प्याला लाते-लाते रास्तेमें गिर

पड़ा और फूट गया। सारा रस जमीन पर फैल गया। इस पर हमें गुस्सा आना स्वाभाविक है। पर ऐसे मौकों पर हमें, जिन्हें आध्यात्मिक साधना इष्ट है, इतना ही सोचना चाहिये कि प्यालेको या रसको नीचे गिरनेसे बचाना भले ही हमारे हाथमें न हो, पर हमारे चित्तको क्रोध द्वारा पतित होनेसे बचाना तो हमारे वसकी वात है। हम उसे क्यों न करें?"

व्यापक दृष्टि

पंडितजी मूलतः ज्ञानोपासक हैं, पर ज्ञानको ही सर्वेसर्वा माननेवाले वे पोंगापंथी नहीं। वे जीवनको व्यापक दृष्टिसे देखते हैं। संकुचितता उनमें नामको भी नहीं। वे दर्शनशास्त्र एवं संस्कृत-पाली-प्राकृत साहित्यके समर्थ विद्वान होते हुए भी मनोविज्ञान, मानववंशशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि विविध ज्ञान-विज्ञानकी शाखाओंके भी जानकार हैं। साथ ही जीवनोपयोगी विविध प्रवृत्तियोंका महत्त्व वे खूब जानते हैं। इसीलिए तो उन्हें गंभीर अध्ययन तथा शास्त्रीय चिंतनमें जितनी रुचि है उतनी ही पशुपालन, खेती, स्त्री-शिक्षा, हरिजनोद्धार, ग्रामोद्योग, खादी, कताई-बुनाई, शिक्षाका माध्यम इत्यादि राष्ट्रनिर्माण और जनसेवाके विविध रचनात्मक कार्योंमें रुचि है। वे इनमें रस लेते हैं और समग्र मानव-जीवनके साथ अपने व्यक्तिगत जीवनका तादात्म्य स्थापित करनेका निरंतर प्रयत्न करते हैं। अज्ञानता, अंधश्रद्धा, वहम, रूढ़िपरायणता आदिके प्रति पंडितजीको सख़्त नफ़रत है। स्त्री-पुरुष या मानव-मानवके ऊँच-नीचके भेदभावको देखकर उनकी आत्माको बड़ा क्लेश होता है। जिस धर्मने एक दिन जनताको अज्ञानता, अंधश्रद्धा तथा रूढ़िसे मुक्त करनेका पुण्यकार्य किया था उसी धर्म या मतके अनुयायियोंको आज प्रगतिरोधक दुर्गुणोंको प्रश्रय देते देखकर पंडितजीका पुण्यप्रकोप प्रकट हो जाता है और वे कह उठते हैं—"**द्राक्षाक्षेत्रे गर्दभाश्चरन्ति।**"

ज्ञानका हेतु सत्य-शोधन और क्रियाका हेतु जीवन-शोधन अर्थात् अहिंसा-पालन है। अतः यदि कहीं शास्त्रके नाम पर अंधश्रद्धा और अज्ञानताकी तथा क्रियाके नाम पर विवेकहीनता और जड़ताकी पुष्टि होती हो, तो पंडितजी उसका उग्र विरोध किये विना रह नहीं सकते। इसीके परिणामस्वरूप वे परंपरावादी और रूढ़िवादी समाजकी घोर निंदाके पात्र वनते हैं। ज्ञान-साधनाको सफल वनानेके लिये वे सत्यको संप्रदायसे वढ़कर मानते हैं। सांप्रदायिक कदाग्रह या अपने मतका मोह उन पर कभी नहीं छाया। वुद्धि और हृदयके विकासकी अवरोधक प्रवृत्तिका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं।

इस प्रकार पंडितजी सदा ही क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील दृष्टिकोणका स्वागत करते रहे हैं, अन्याय और दमनका विरोध करते रहे हैं, सामाजिक दुर्व्यवहारसे पीडित महिलाओं एवं पददलितोंके प्रति सहृदय बने रहे हैं।

पंडितजी धार्मिक एवं सामाजिक रोगोंके सच्चे परीक्षक और चिकित्सक हैं। निवृत्तिके नाम पर प्रवृत्तिके प्रति हमारे समाजकी उदासीनता उन्हें बेहद खटकती है। उनका धार्मिक आदर्श है: **मित्ति मे सव्वभूएसु** — समस्त विश्वके साथ अद्वैतभाव यानी अहिंसाका पूर्ण साक्षात्कार। इसमें सांप्रदायिकता या पक्षापक्षीको तनिक भी अवकाश नहीं है। उनका सामाजिक प्रवृत्तिका आदर्श है — स्त्री-पुरुष या मानवमात्रकी समानता।

पंडितजी प्रेमके भूखे हैं, पर खुशामदसे कोसों दूर भागते हैं। वे जितने विनम्र हैं, उतने ही दृढ़ भी हैं। अत्यंत शांतिपूर्वक सत्य वस्तु कहनेमें उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं। आवश्यकता पड़ने पर कटु सत्य कहना भी वे नहीं चूकते।

पंडितजीकी व्यवहारकुशलता प्रसिद्ध है। पारिवारिक या गृहस्थीके जटिल प्रश्नोंका वे व्यावहारिक हल खोज निकालते हैं। वे इतने विचक्षण हैं कि एक बार किसी व्यक्ति या स्थानकी मुलाक़ात ले लेने पर उसे फिर कभी नहीं भूलते; और जब वे उसका वर्णन करना शुरू करते हैं, तब सुननेवाला यह भाँप नहीं सकता कि वर्णनकर्ता चक्षुहीन है। वे उदार, सरल एवं सहृदय हैं। कोई उन्हें अपना मित्र मानता है, कोई पिता और कोई गुरुवर्य।

गाँधीजीके प्रति पंडितजीकी अटूट श्रद्धा है। बापूकी रचनात्मक प्रवृत्तियोंमें उन्हें बड़ी रुचि है। अपनी विवशताके कारण वे उनमें सक्रिय सहयोग नहीं दे सकते, इसका उन्हें बड़ा दुःख है। इन दिनों गुजरातके भूदान कार्यकर्ताओंने तो उन्हें अपना बना लिया है। पू० रविशंकर महाराजके प्रति पंडितजीको बड़ा आदर है। तदुपरांत '**गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः**'—इस सिद्धान्तानुसार श्री० नारायण देसाई जैसे नवयुवकोंकी सेवा-प्रवृत्तिके प्रति भी वे स्नेह व श्रद्धापूर्वक देखते हैं।

प्रवृत्तिपरायण निवृत्ति

बनारससे निवृत्त होकर पंडितजी बम्बईके भारतीय विद्याभवनमें अवैतनिक अध्यापकके रूपमें काम करने लगे, पर बम्बईका निवास उन्हें अनुकूल न हुआ। अतः वे वापस बनारस लौट गये। सन् १९४७ में वे अहमदाबादमें

आये और गुजरात विद्यासभाके श्री० भो० जे० विद्याभवनमें अवैतनिक अध्यापकके रूपमें कार्य शुरू किया। यह कार्य आज भी जारी है और अब तो अहमदाबाद ही में पंडितजीका क़ायमी मुक़ाम हो गया है।

वैसे देखा जाय तो पंडितजी अब निवृत्त गिने जाते हैं, पर उनका यह निवृत्ति-काल प्रवृत्ति-कालसे किसी तरह कम नहीं। विद्याके उपार्जन और वितरणका कार्य आज ७७ वर्षकी आयुमें भी वे अविरत गतिसे कर रहे हैं, और मानो किसी प्राचीन ऋषि-आश्रमके कुलपति हों इस तरह विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानोंको उनका अमूल्य मार्गदर्शन सुलभ हो रहा है।

अपने निकट आनेवाले व्यक्तिको कुछ-न-कुछ देकर मानवताके ऋणसे मुक्त होनेकी पंडितजी सदा चिंता करते रहते हैं। हाल ही में (ता० १६-२-५७ के दिन) गुजरातके नवयुवक भूदान कार्यकर्ता श्री० सूर्यकांत परीखको पत्र लिखते हुए आचार्य विनोबा भावेने पंडितजीके बारे में सत्य ही लिखा है—

"पंडित सुखलालजीको आपको विचार-शोधनमें मदद मिलती है, यह जानकर मुझे ख़ुशी हुई। मदद देनेको तो वे बैठे ही हैं। मदद लेनेवाला कोई मिल जाता है तो उसीका अभिनंदन करना चाहिये।"

विद्वत्ताका बहुमान

गत दस वर्षोंमें पंडितजीकी विद्वत्ताका निम्नलिखित ढंगसे बहुमान हुआ है—

सन् १९४७ में जैन साहित्यकी उल्लेखनीय सेवा करनेके उपलक्ष्यमें भावनगरकी श्री० यशोविजय जैन ग्रंथमालाकी ओरसे श्री० विजयधर्मसूरि जैन साहित्य सुवर्ण-चंद्रक (प्रथम) अर्पित किया गया।

सन् १९५१ में आप ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरन्सके १६वें लखनऊ अधिवेशनके जैन और प्राकृत विभागके अध्यक्ष बने।

सन् १९५५ में अहमदाबादमें गुजरात विद्यासभा द्वारा आयोजित श्री० पोपटलाल हेमचंद्र अध्यात्म व्याख्यानमालामें 'अध्यात्मविचारणा' संबंधी तीन व्याख्यान दिये।

सन् १९५६ में वर्धाकी राष्ट्रभाषा प्रचार समितिकी ओरसे दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथोंकी हिन्दीमें रचना कर हिन्दी भाषाकी सेवा करनेके उपलक्ष्यमें

रु० १५०१) का श्री० महात्मा गाँधी पुरस्कार (पंचम) आपको प्रदान किया गया। (चतुर्थ पुरस्कार पू० विनोबाजीको प्रदान किया गया था।)

सन् १९५७ में महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ओनरेरियम लेक्चर्सकी श्रेणीमें 'भारतीय तत्त्वविद्या' पर आपने पाँच व्याख्यान दिये।

सन् १९५७ में गुजरात यूनिवर्सिटीने आपको डोक्टर ऑफ लेटर्स (D. Litt.) की सम्मानित उपाधि प्रदान करनेका निर्णय किया।

सन् १९५७ में अखिल भारतीय रूपमें संगठित 'पंडित सुखलालजी सन्मान समिति' द्वारा वंबईमें आपका सार्वजनिक ढंगसे भव्य सन्मान किया गया। एक सन्मान-कोश भी अर्पित किया गया और आपके लेख-संग्रहों (दो गुजरातीमें और एक हिन्दीमें—कुल तीन ग्रंथों)का प्रकाशन करनेकी घोषणा की गई।

साहित्य-सर्जन

पंडितजीके संपादित, संशोधित, अनुवादित और विवेचित ग्रंथोंकी नामावली निम्नांकित है—

(१) **आत्मानुशास्तिकुलक**—(पूर्वाचार्य कृत) मूल प्राकृत; गुजराती अनुवाद (सन् १९१४-१५)।

(२-५) **कर्मग्रंथ १ से ४**—देवेन्द्रसूरि कृत; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना, परिशिष्टयुक्त; सन् १९१५ से १९२० तक; प्रकाशक: श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा।

(६) **दंडक**—पूर्वाचार्य कृत प्राकृत जैन प्रकरण ग्रंथका हिन्दीसार; सन् १९२१; प्रकाशक उपर्युक्त।

(७) **पंच प्रतिक्रमण**—जैन आचार विषयक ग्रन्थ; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद विवेचन, प्रस्तावना युक्त; सन् १९२१; प्रकाशक उपर्युक्त।

(८) **योगदर्शन**—मूल पातंजल योगसूत्र; वृत्ति उपाध्याय यशोविजयजी कृत तथा श्री हरिभद्रसूरि कृत प्राकृत योगविंशिका मूल, टीका (संस्कृत) उपाध्याय यशोविजयजी कृत; हिन्दी सार, विवेचचन तथा प्रस्तावना युक्त; सन् १९२२; प्रकाशक उपर्युक्त।

(९) **सन्मतितर्क**—मूल प्राकृत सिद्धसेन दिवाकर कृत; टीका (संस्कृत) श्री अभयदेवसूरि कृत; पाँच भाग, छठा भाग मूल और गुजराती सार, विवेचन तथा प्रस्तावना सहित; पं. बेचरदासजीके सहयोगसे। सन् १९२५ से १९३२ तक;

प्रकाशक : गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद ।

(छठे भागका अंग्रेजी अनुवाद सन् १९४० में जैन श्वेताम्वर मूर्तिपूजक कान्फरन्सकी ओरसे प्रकट हुआ है ।)

(१०) **जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार**—गुजरातीमें, पंडित वेचरदास-जीके सहयोगसे, प्रकाशक उपर्युक्त ।

(११) **तत्त्वार्थसूत्र**—उमास्वति वाचक कृत संस्कृत; सार, विवेचन, विस्तृत प्रस्तावना युक्त; गुजराती और हिन्दीमें; सन् १९३० में । गुजरातीके प्रकाशक : गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद, तीन आवृत्तियाँ ।

हिन्दी प्रथम आवृत्तिके प्रकाशक : श्री० आत्मानंद जन्म शताव्दी स्मारक समिति, वम्वई; दूसरी आवृत्तिके प्रकाशक : जैन संस्कृति संशोधक मंडल, वनारस ।

(१२) **न्यायावतार** - सिद्धसेन दिवाकर कृत; मूल संस्कृत; अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना युक्त; सन् १९२५; जैन साहित्य संशोधक में प्रकट हुआ है ।

(१३) **प्रमाणमीमांसा**—हेमचंद्राचार्य कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पण युक्त; सन् १९३९; प्रकाशक : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, वम्वई ।

(१४) **जैनतर्कभाषा**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; संस्कृत टिप्पणयुक्त, हिन्दी प्रस्तावना; सन् १९४०; प्रकाशक उपर्युक्त ।

(१५) **हेतुबिंदु**—बौद्ध न्यायका संस्कृत ग्रन्थ; धर्मकीर्ति कृत; टीकाकार अर्चट, अनुटीकाकार दुर्वेक मिश्र; अंग्रेजी प्रस्तावना युक्त; सन् १९४९; प्रकाशक : गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज, वड़ौदा ।

(१६) **ज्ञानबिंदु**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा संस्कृत टिप्पण युक्त; सन् १९४९; प्रकाशक : सिंघी जैन ग्रन्थमाला, वम्वई ।

(१७) **तत्त्वोपप्लवसिंह**—जयराशि कृत; चार्वाक परम्पराका संस्कृत ग्रन्थ; अंग्रेजी प्रस्तावना युक्त; सन् १९४०; प्रकाशक : गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, वड़ौदा ।

(१८) **वेदवादद्वात्रिंशिका**—सिद्धसेन दिवाकर कृत; संस्कृत; गुजरातीमें सार, विवेचन, प्रस्तावना; सन् १९४६; प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, वम्वई । (यह ग्रन्थ हिन्दीमें भी प्रकाशित हुआ है ।)

(१९) **आध्यात्मिक विकासक्रम**—गुणस्थानके तुलनात्मक अध्ययन संबंधी तीन लेख; सन् १९२५; प्रकाशक: शंभुलाल ज० शाह, अहमदावाद ।

(२०) **निर्ग्रंथ संप्रदाय**—महत्त्वके प्राचीन तथ्योंका ऐतिहासिक निरूपण; हिन्दीमें; सन् १९४७; प्रकाशक: जैन संस्कृति संशोधक मंडल, बनारस ।

(२१) **चार तीर्थंकर**—भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर संबंधी लेखोंका संग्रह; हिन्दीमें; सन् १९५४; प्रकाशक उपर्युक्त ।

(२२) **धर्म और समाज**—लेखोंका संग्रह; हिन्दीमें; सन् १९५१; प्रकाशक: हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

(२३) **अध्यात्मविचारणा**—गुजरात विद्यासभाकी श्री० पोपटलाल हेमचंद्र अध्यात्म व्याख्यानमालाके अंतर्गत आत्मा, परमात्मा और साधनाके संबंधमें दिये गये तीन व्याख्यान; गुजरातीमें; सन् १९५६; प्रकाशक: गुजरात विद्यासभा, अहमदावाद ।

(२४) **भारतीय तत्त्वविद्या**—महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदाके तत्त्वावधानमें महाराजा सयाजीराव ओनरेरियम लेक्चर्सके अंतर्गत जगत, जीव और ईश्वरके संबंधमें दिये गये पांच व्याख्यान; प्रकाशक: बड़ौदा यूनिवर्सिटी (प्रेसमें)।

इनके अतिरिक्त दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयोंसे सम्बद्ध अनेक लेख पंडितजीने गुजराती और हिन्दीमें लिखे हैं । इनमेंसे अधिकांश लेख 'पंडित सुखलालजी सन्मान समिति' की ओरसे प्रकाशित 'दर्शन अने चिंतन' नामक गुजरातीके दो ग्रन्थोंमें तथा 'दर्शन और चिंतन' नामक हिन्दीके एक ग्रन्थमें संगृहीत किये गये हैं ।

अंजलि

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।

C/o सर्व-सेवा-संघ, गांधीनगर,
तिरुपुर, जि. कोइम्बतूर।
(तामिळनाड)
१६-५-५७.

श्री महाशय,

पण्डित सुखलालजीकी विद्यासेवाके कारण कृतज्ञता प्रगट करनेके लिये उनका सन्मानका समारम्भ बम्बईमें किया जा रहा है, यह खुशीकी बात है। तटस्थ या निष्पक्ष बुद्धि विद्योपासनाकी गमक है। यह गुण पंडित सुखलालजीमें परिपूर्णतया पाया जाता है। मैं आशा करता हूँ, उस महान गुणका स्पर्श हम सबको होगा।

विनोबाके
प्रणाम

ગાંધીયુગના દર્શનશાસ્ત્રી

કાકાસાહેબ કાલેલકર

પંડિત સુખલાલજી સાથેનો મારો પરિચય ૩૦–૩૫ વરસનો છે. એમની કુશાગ્ર બુદ્ધિ અને વિદ્વત્તા સૌ કોઈ જાણે છે. ભારતીય તત્ત્વજ્ઞાન ઉપરનું એમનું પ્રભુત્વ અસાધારણ છે. ૩૦–૩૫ વરસના પરિચયમાં મેં એમની વાણીમાં કે વર્તનમાં અનુદારતાનો લવલેશ જોયો નથી; પક્ષપાત કે સંકુચિતતા જોઈ નથી. દૃષ્ટિ હોવા છતાં અદેખાઈ કરનારા લોકો મેં જોયા છે. એવા લોકો પ્રત્યે સુખલાલજીએ હંમેશા ક્ષાન્તિ ધારણ કરી છે, અને તેથી એમને વિષેનો આદર વધતો જ ગયો છે.

પંડિત સુખલાલજી નજરે જોઈ શકતા નથી, પરણીને એમણે ગૃહસ્થાશ્રમ કર્યો નથી. આ મોટી બે ઊણપો હોવા છતાં એમનું જીવનદર્શન અધૂરું નથી. એ જ બતાવે છે કે જો માણસ પાસે સૂક્ષ્મ બુદ્ધિ અને ઉદાર હૃદય હોય તો એની અનુભૂતિમાં ઊણપ રહેવાનું કારણ નથી.

વિદ્વાનોમાં જ્યારે પક્ષપાત, સંકુચિતતા, ક્રોધ અથવા લોભ પેસી જાય છે, ત્યારે તેમનામાં ઓશિયાળાપણું આવી જાય છે. સુખલાલજી નિરાગ્રહી અને નિઃસ્પૃહી હોવાને કારણે એમણે પોતાની તેજસ્વિતા ખોઈ નથી.

આપણે એમની પાસેથી હવે બે વસ્તુની અપેક્ષા રાખીએ. એક, તેઓ આપણને પોતાનું વિસ્તૃત આત્મચરિત્ર લખી આપે અને બીજું, ભારતીય દર્શનશાસ્ત્રોના નિચોડરૂપે એક સર્વસમન્વયકારી દર્શન–ગ્રંથ આપણને આપે, જે ભારતીય તત્ત્વજ્ઞાનને નવપ્રસ્થાનરૂપ નીવડે, અને દુનિયાને નવજીવનની રચના કરવા માટે મજબૂત પાયો પૂરો પાડે. ગાંધીયુગના દર્શનશાસ્ત્રી જ આ કામ કરી શકશે.

पं० सुखलालजी

श्री. राहुल सांकृत्यायन

पं० सुखलालजी हमारे तपस्वी विद्याचरणसम्पन्न प्राचीन पंडितोंके प्रतीक हैं। संस्कृत दर्शनके अद्भुत विद्वान् होने पर भी उनकी तीव्र जिज्ञासाको देखकर आश्चर्य होता है। हर नये ज्ञानको अर्जित करनेके लिये इस वार्धक्यमें भी तैयार रहते हैं। वर्षों पहलेकी बात है। रूसके आचार्य श्चेर्वात्स्कीके "बुद्धिस्ट लाजिक" को पढ़वाकर उन्होंने सुना था। कह रहे थे, उसका हमारी भाषामें अनुवाद होना चाहिये और हरेक संस्कृतके दर्शनाचार्यको उसे पढ़ना चाहिये। तिब्बतमें बौद्ध न्यायकी बहुत-सी पुस्तकें मुझे मिलीं, जिनके लिये सबसे अधिक प्रसन्नता आचार्य श्चेर्वात्स्की और पं० सुखलालजीको हुई। 'प्रमाणवार्त्तिक भाष्य' को प्रकाशित होनेमें बीस वर्ष लग गये। पहले तो आशा ही नहीं थी कि वह कभी प्रकाशित होगा भी। पंडितजी तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। उन्होंने मेरी उतारी हुई प्रतिको मंगवाकर सारा ग्रन्थ उतरवा लिया।

मैं पिछले बीस–पच्चीस वर्षोंसे पंडितजीके सम्पर्क में रहा हूँ। उनके सरल और मधुर व्यक्तित्वने और भी मुझे अधिक प्रभावित किया है।

वह आचार–विचार सबमें अत्यन्त उदार हैं। साम्प्रदायिक संकीर्णता उनसे कोसों दूर रही। अपने समाज द्वारा सुरक्षित निधियोंका उन्हें पूरा अभिमान था, और उनके संरक्षणका प्रयत्न भी करते हैं। पर, उनकी विद्वत्ता उन्हें पूर्ण भारतीय बनाती है। बल्कि कहना चाहिये, वह मानवताके अभिन्न अंग हैं। पुराने विद्वानोंमें इतनी अधिक विचार–सहिष्णुता मैंने नहीं देखी, यद्यपि सभी मत–मतान्तरके महान् ग्रंथोंके प्रति आदर और स्नेह मैंने दूसरे पंडितोंमें भी देखे हैं।

पंडितजी हमारे बीचमें शतायु होकर रहें और अपनी अपार ज्ञाननिधिसे जिज्ञासुओं और छात्रोंको तृप्त करते रहें।

मसूरी, २२–२–५७

પ્રજ્ઞાચક્ષુ પંડિત સુખલાલજી

શ્રી. રવિશંકર મહારાજ

પંડિત સુખલાલજીને મળવા માટે એક વખત હું બનારસ યુનિવર્સિટીમાં શ્રી. ગંગાબેન ઝવેરી સાથે ગયો હતો. તેઓ એ વખતે એમના મુકામ ઉપર નહોતા. અમે થોડી વાર બેઠા, એટલામાં પંડિતજી આવ્યા. મેં એમના ખુશખબર પૂછ્યા. ત્યાં તો એમણે મને નામ દઈને બોલાવ્યો. મને થયું કે બહુ વર્ષો પહેલાં ગૂજરાત વિદ્યાપીઠમાં અમે થોડી ક્ષણો માટે મળ્યા હતા. એટલા ટૂંકા પરિચય ઉપરથી એમણે મારા અવાજને પકડી પાડ્યો હશે, ત્યારે જ એ મને ઓળખી શકે ને? આ કેટલી સ્મરણશક્તિ!

પંડિતજીને જોઈને પુનર્જન્મના ભવ્ય વિચારનું સ્મરણ થઈ આવે છે. ગીતામાં પૂર્વજન્મે યોગ સાધનારનો યોગ અધૂરો રહ્યો હોય તો નવો જન્મ લઈને એ પૂર્ણ કરે છે, એમ કહેલું છે. એવું જ કંઈક પંડિતજીને જોઈને લાગે છે. એમની આજની સિદ્ધિઓ એમના પૂર્વજન્મનું ફળ કેમ ન હોય? સ્વામી દયાનંદ સરસ્વતીના ગુરુ સ્વામી વિરજાનંદજીનું જીવનચરિત્ર મેં વાંચેલું. એ પણ બાળપણથી અંધ છતાં પ્રજ્ઞાચક્ષુ ને મહાન વૈયાકરણી હતા. પંડિતજીને જોઉં છું ત્યારે સ્વામી વિરજાનંદજીનું ચિત્ર મારી આંખો આગળ ખડું થાય છે.

બાળપણમાં જ એમની બન્ને આંખો ચાલી ગઈ છે; પણ ભારે પુરુષાર્થ કરીને તેઓ પ્રજ્ઞાચક્ષુ બન્યા છે. ધર્મ અને તત્ત્વજ્ઞાનનો એમનો ઊંડો અભ્યાસ, બીજાની આંખે કરેલું બહોળું વાચન તથા અવલોકન, તેમ જ કોઈ પણ અભ્યાસના વિષય કે પ્રસંગોના આકલનમાંથી તત્ત્વ પારખી કાઢવાની એમની સૂક્ષ્મ મેધા જોઈને આપણને સૌને આશ્ચર્ય થાય છે.

કુમારી હેલન કેલર વિષે આપણે ઘણું સાંભળીએ છીએ, પણ તેઓ તો આપણાથી બહુ દૂર પડ્યાં. પંડિત સુખલાલજી તો આપણી વચ્ચે જ છે; આપણા જેવા જ દેખાતા છતાં આવી મહાન શક્તિ ધરાવતા પ્રજ્ઞાપુરુષ છે. તેઓ કેવળ આપણા ગૂજરાતનું જ નહિ, પણ ભારતનું એક અમૂલું રત્ન છે. એમના જીવનની પ્રક્રિયા જોઈને હું હંમેશાં મુગ્ધ થાઉં છું; અને જ્યારે જ્યારે એમને મળવાનું થાય છે, ત્યારે એમને મોઢે થોડી વાતો સાંભળીને ખૂબ સંતોષ અને આનંદ અનુભવું છું.

છોંતેર વર્ષ સુધી એમણે એમની શક્તિઓ મારફત સમાજની અને સાહિત્યની અનેરી સેવાઓ બજાવી છે. એની કદર થઈ રહી છે એ જોઈ મારું અંતર હસી ઊઠે છે. એવા મહાન વિદ્વાન પુરુષ વિષે મારા જેવો અભણ માણસ વિશેષ શું લખે? નમ્રભાવે આ પ્રસંગે હું એમને નમસ્કાર કરું છું.

ઉમરેઠ, તા. ૧૩-૩-૫૭

પંડિત સુખલાલજી

શ્રી. નાનાભાઈ ભટ્ટ

પંડિતજીનો પ્રત્યક્ષ પરિચય પહેલવહેલો ગુજરાત વિદ્યાપીઠમાં થયો. પૂજ્ય બાપુએ મને ગુજરાત વિદ્યાપીઠમાં ગોઠવ્યો તે વખતે વિદ્યાપીઠમાં જે અધ્યાપકો એકઠા મળ્યા હતા તેઓ દરેક એક એક સ્વતંત્ર વિદ્યાપીઠ સ્થાપી શકે એટલા શક્તિશાળી હતા. તેઓ પોતે જ એક એક વિદ્યાપીઠ હતા, એમ કહેવું વધારે યથાર્થ છે. પંડિતજી ગુજરાત વિદ્યાપીઠના પુરાતત્ત્વ વિભાગમાં તે વખતે કામ કરતા હતા. પંડિત સુખલાલજી, સદ્ગત રામનારાયણ પાઠક, મુનિશ્રી જિનવિજયજી, પંડિત બેચરદાસજી, શ્રી. રસિકલાલ પરીખ, કોસાંબીજી વગેરે આ વિભાગમાં કામ કરતા હતા. પણ વિદ્યાપીઠમાં હું પંડિતજીની બહુ નજીક ન આવી શક્યો. વિદ્યાપીઠમાં મને એમની વિદ્યાએ મુગ્ધ કર્યો, પણ એમના જીવનનું બીજું પાસું જોવા-જાણવાનો મને ત્યાં વખત ન મળ્યો.

સામાન્ય રીતે વિદ્યા એટલે નરી વિદ્વત્તા એવો અર્થ આપણા મનમાં ઊગે છે. આવી વિદ્વત્તા કાં તો નર્યા શબ્દો અને શબ્દોના અર્થ ઉપર રાચે છે અથવા તો વધારે વ્યવહારુ રૂપ લઈને કોઈ પણ એક વિષયમાં માણસને પારંગત બનાવે છે. આથી કરીને આપણા પંડિતો મોટે ભાગે પોથી-પંડિતો હોય છે અથવા તો વિદ્યાના કોઈ એક વિભાગમાં નિષ્ણાત હોય છે.

પંડિત સુખલાલજી આવા પોથી-પંડિત તો છે જ, પંડિતજી આવી વિદ્યાના નિષ્ણાત પણ છે; પણ તદુપરાંત પંડિતજીએ પોતાની પંડિતાઈનો તેમ જ પોતાના નિષ્ણાતપણાનો જીવનની સાથે સાચો સુમેળ સાધ્યો છે; એટલે એમની પંડિતાઈ વધારે તેજસ્વી બની છે અને એમનું ભારતીય તત્ત્વ-જ્ઞાનના પ્રદેશમાં નિષ્ણાતપણું હજી આજે પણ આપણને જીવતું લાગે છે. એટલે પંડિતજી પુરાતત્ત્વમાં કામ કરનારા હોવા છતાં નિરંતર અદ્યતન છે. જીર્ણ જેવા જણાતા શબ્દોમાં પંડિતજી નવો પ્રાણ પૂરી શકે છે અને નવા યુગના માનવીની ભૂખ તેમ જ મહેચ્છાનો આદર કરી શકે છે. પંડિતજી જન્મે જૈન છે, તેઓ જૈન પરંપરામાં ઊછર્યા છે, છતાં વૈદિક પરંપરામાં તેમ જ બૌદ્ધ પરંપરામાં જે સદંશો રહેલા છે તેનો તેઓ આદર કરે છે અને તમામ પરંપરાઓમાં જે દૂષણો દાખલ થઈ ગયાં છે તેના તરફ તેમનો એકસરખો વિરોધ છે. આ જ કારણથી આવતી કાલના જે ધર્મની જગતમાં દેખા દઈ રહી છે તેના પંડિતજી એક પુરોગામી છે, એમ આપણને લાગ્યા વિના રહેતું નથી.

આ તો થઈ પંડિતજીની પંડિતાઈની વાત. પણ એમની પંડિતાઈની સાથે એમની નિરભિમાનિતા આપણને મુગ્ધ કરે છે. પંડિતજી દેખાવે સાવ સાદા—કેમ જાણે કોઈ શીળીના ચાઠાવાળો વાણિયો હોય! અષ્ટાવક્ર મુનિના વાંકાંચૂકાં અંગો જોઈ ને જેમ જનકની સભાના બ્રાહ્મણોને હસવું આવ્યું હતું તેમ અજાણ્યા આદમીને પંડિતજીને વ્યાસપીઠ પર જોઈને કદાચ હસવું પણ આવે. પણ જેઓ હાડકાં-ચામડાંને મૂલવનાર ચમારથી ઉચ્ચ કોટિના લોકો છે તેઓ તો પંડિતજીનું આ નિરભિમાનપણું જોઈને મુગ્ધ થયા વિના રહી જ ન શકે. વાણી સાવ સાદી, પણ અર્થગંભીર. બોલવામાં જરાય અંગ-ઉપાંગની લટકચટક નહિ, અને તેમ છતાં અધિકારી શ્રોતાઓના હૈયા સોંસરી ઊતરી જાય એવી એમની વાતો ભૂલી ન જવાય એવી હોય છે. આ નિરભિમાનિતા માત્ર વાણીમાં જ નહીં, પણ પંડિતજીના સમગ્ર જીવનમાં નીતરતી જણાય છે. બોલવામાં, ચાલવામાં, ખાવામાં, પીવામાં, બેસવામાં, ઊઠવામાં નરી સાદાઈ, જરાય આડંબર નહિ, જરાય કૃત્રિમતા નહિ—નરી સંસ્કારપૂર્ણ સાદાઈ.

પણ આ સાદાઈ એટલે માત્ર જીભ પરની મીઠાશ એમ રખે કોઈ સમજે. પંડિતજી જેટલા વિદ્વાન છે, પંડિતજી જેટલા સાદા છે તેટલા જ નીડર છે, નિર્ભય છે. એમનાં વાણી અને વર્તન વિવેકથી ભર્યાં છે, છતાં જગતમાં અને તેમાંય ખાસ કરીને સમાજમાં તેમ જ ધર્મમાં ચાલતાં જૂઠ અને પાખંડ તરફ એમનો વિરોધ હમેશાં ઉગ્ર હોય છે. દુનિયાના ડાહ્યા માણસો જે જૂઠ તેમ જ પાખંડ સાથે ઘણીવાર માંડવાળ કરે છે તેવી માંડવાળ પંડિતજી કદી પણ કરતા નથી અને જ્યારે જ્યારે વિરોધ કરવાનો પોતાનો ધર્મ જણાય ત્યારે ઊંડા અંતર ને વેદના કરતા શબ્દોથી પંડિતજી વિરોધ કરે છે.

વિદ્વત્તા, સાદાઇ અને નિર્ભયતાનો આવો સુભગ સુમેળ ઘણાં ઓછાં માણસોમાં જોવા મળે છે. પંડિતજીને કદાચ આવા માણસોમાં મોખરે મુકાય.

વિદ્યાપીઠમાંથી અમે છૂટા પડ્યા પછી મારો પંડિતજી સાથેનો પરિચય વધતો આવ્યો છે, અને છેલ્લે છેલ્લે લોકભારતીમાં તો એ પરિચય ઘણો વધારે દૃઢ થયો છે. જેમ જેમ હું પંડિતજીના પરિચયમાં વધારે વધારે આવતો ગયો તેમ તેમ મારો તેમના તરફનો આદર વધતો ચાલ્યો છે. અમે સૌ લોકભારતીમાં પંડિતજીના જીવનની સુવાસ અવારનવાર લઈ શકીએ છીએ, એ અમારું સદ્ભાગ્ય છે.

તા. ૩-૩-૫૭, લોકભારતી, સણોસરા

महाप्राज्ञ पण्डित सुखलालजी

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

पण्डित सुखलालजीका स्मरण करते हुए एक संमानित विशेषण जो मेरे मनमें आता है वह 'महाप्राज्ञ' है। वे सर्वथा प्रज्ञाके रूप हैं, भीतर-बाहर दीर्घ प्रज्ञासे ओतप्रोत हैं। प्राचीन उपनिषद् युगमें प्रज्ञा शब्द पर विशेष ध्यान दिया गया था। जीवनकी जो व्यवहारपरायण कुशल बुद्धि है उसे प्रज्ञा कहते थे। अपने निजी विचारों और कर्मोंमें संतुलन प्रज्ञाका लक्षण है। दूसरोंके कर्मोंमें व्यवहारबुद्धिसे और हिताकांक्षासे सहयोग और सहायता देना प्रज्ञाका लक्षण है। प्रज्ञावान् व्यक्ति संसारके व्यवहारोंको छोड़ता नहीं; उनमें भरसक बुद्धिकौशलसे प्रवृत्त होता है। उसके प्रत्येक कार्यमें उत्साह और श्रद्धाका बीज रहता है। इस प्रकारकी प्रशस्त बुद्धिमत्ता जिस व्यक्तिमें हो उसे हम प्राज्ञ या प्रज्ञावान् कहेंगे। आजकल जिसे समझदारी या हृदयके आर्जवभावसे युक्त विचार और कर्मकी कुशलता कहते हैं वही प्राचीन परिभाषा में प्रज्ञा कही जाती थी। प्रज्ञाको ही मागधी या पालि भाषामें 'पञ्ञा' और अर्धमागधी बोलीमें 'पण्णा' कहा गया। हमारा अनुमान है कि उसीका रूप किसी जनपद विशेषकी बोलीमें, संभवतः कुरु जनपदके क्षेत्रमें, 'पण्डा' हुआ। जैसे प्रज्ञासे युक्त प्राज्ञ, वैसे ही पण्डासे युक्त व्यक्ति 'पण्डित' इस पदवीका अधिकारी हुआ। सच्चे अर्थमें पण्डित होना जीवनकी महती प्रतिष्ठा और सफलता है। दैवयोगसे यह संमानित पदवी श्री० सुखलालजीके नामके साथ लोककी अन्तःप्रेरणाको व्यक्त करती हुई स्वतः जुड़ गई है, जिसमें उनके विशाल सरस व्यक्तित्वकी अर्थवती झाँकी मिलती है।

श्री० सुखलालजी व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। उनके शरीरका गोत्र और नाम जो भी हो, उन्होंने अपना सारस्वत गोत्र बना लिया है। जहाँ जहाँ सरस्वती या शारदाकी सच्ची उपासना की जाती है, वहीं श्री० सुखलालजीके मनको रस मिलता है। जहाँ ज्ञान और विद्याकी चर्चा है, जहाँ संस्कृति और कलाकी साधना होती है, उस ब्राह्म-सरमें श्री० सुखलालजी अभिषेक करके गद्गद् हो जाते हैं। उनके मनमें अभिनिवेशकी सीमाएँ नहीं, न किसी प्रकारका पूर्वाग्रह है। उनका मन उदार है। मैंने आज लगभग बीस वर्षोंमें जबसे उन्हें जाना है, उनके इसी स्वभाव और स्वरूपको सकुशल देखा है। उनके भीतर प्रेरणाका स्रोत कैसा अक्षय्य है, इसकी कल्पना वह व्यक्ति

कर सकता है, जिसने उन्हें साहित्य–जगतके सहयोगियोंके साथ सम्बन्धके अनेक सूत्र जोड़ते हुए देखा है। वे साफ़–सुथरे विचार और तदनुरूप सुघटित सुशिल्पयुक्त कर्ममें विश्वास करते हैं। स्वयं अपने जीवनमें उन्होंने इसका प्रतिपालन किया है, और दूसरोंमें भी वे इस गुणको देखना चाहते हैं।

अपने जीवनमें उन्होंने जो ज्ञानकी गम्भीर साधना की है वह स्तुत्य है। पाणिनीय व्याकरण, सिद्धहेम–शब्दानुशासन जैसे महान् ग्रन्थ, भारतीय जैन और बौद्ध दर्शन, उनमें भी विशेषतः न्याय और प्रामाण्यवादके अनेक विशिष्ट ग्रन्थ उनकी स्मृतिमें विद्यमान हैं। उनके तर्क और हेतुओंमें गहरे पैठकर उन्होंने विशिष्ट विचार किया है। उनके इस महत्कर्मका अनुभव करके स्तब्ध हो जाना पड़ता है। उनकी प्रचण्ड दहकती हुई स्मृति ईश्वरका वरदान है, जिसे उन्होंने अपनी एकाग्र निष्ठासे और भी कुशलिनी बनाया है।

किन्तु शुद्ध शास्त्रीय पाण्डित्य तो अन्यत्र भी मिल सकता है। पण्डितजीकी जो विशेषता है, वह उनका दृष्टिकोण है। उन्होंने प्रत्येक ज्ञानको जीवनकी दृष्टिसे समझने और अर्थानेका अभ्यास किया है। वह पाण्डित्य क्या जो जीवनसे असंस्पृष्ट रहे? वे गान्धीजीके निकट संपर्कमें आये और लगभग ग्यारह वर्षों तक अहमदाबाद–गुजरात विद्यापीठमें कार्य करते रहे। अवश्य ही दोनों महान् व्यक्तिओंने एक–दूसरेको पहचाना, और अपने कार्योंको जीवनरससे समन्वित बनाकर प्रस्तुत करनेकी युक्तिको ही अपनाया।

कई अवसरों पर श्री० पण्डितजीको निकटसे देखनेका अवसर मुझे मिला है, और प्रतिवार उनके प्रति मैंने अपने आकर्षणको बढ़ा हुआ पाया है। जैन साहित्यके सर्वाङ्गपूर्ण बृहत् इतिहासकी एक योजना मेरी प्रेरणासे पार्श्वनाथ विद्याश्रमने स्वीकृत की। आरम्भसे ही पण्डितजीने उसमें सक्रिय रुचि ली। न केवल उन्होंने उसका समर्थन किया, वरन् उसके आरम्भिक संगठनमें बहुमूल्य परामर्श और सहयोग दिया। योजनाके सम्बन्धमें जो एक वाक्य उन्होंने कहा वह मुझे कभी नहीं भूलता–"यह काम करना है।" आज भी योजनाकी प्रवृत्तियोंमें लगे हुए सब सहयोगी इस प्रेरणाघन सूत्रसे कठिनाईमें मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। मैं आनन्दका वह क्षण भी कभी नहीं भूल सकता जब राजकोटकी मेघाणी समितिके निमन्त्रण पर आमन्त्रित होकर 'मेघाणी व्याख्यानमाला'के प्रथम व्याख्यान देने मैं राजकोट जा रहा था और कुछ ही स्टेशन पूर्व ब्राह्ममुहूर्तमें लगभग चार बजे रेलमें ही सूचना मिली कि पण्डित सुखलालजी उन व्याख्यानोंके अवसर पर उपस्थित रहनेके

लिये यात्रा कर रहे हैं। मेरे मन पर उस समय उनके व्यक्तित्वकी जो छाप पड़ी वह अमिट है। मैं नहीं जानता कि और कितनोंको भी उनके इस प्रकारके रसपूर्ण व्यक्तित्वका मधुमान् अनुभव प्राप्त हुआ होगा। मैंने इसे अपना सौभाग्य ही माना कि उन्हींके सभापतित्वमें मैं 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' पर अपने व्याख्यान सुना सका। उस समय भी उन्होंने जिस हृदयकी महत्ताका परिचय दिया था और श्रोताओंको सविशेष रूपसे उक्त विषयकी ओर आकृष्ट किया था, वे मधुर संस्मरण मेरे मनमें निहित हैं।

पण्डितजीने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थोंका निर्माण किया है, पर उनके एक विशेष कार्यका मेरे मनने बराबर अभिनन्दन किया है। वह उनका सिद्धसेन दिवाकरकी द्वात्रिंशिकाओंके विषयमें अध्ययन है। कहा जाता है कि बत्तीस-बत्तीस श्लोकोंकी बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ सिद्धसेनने लिखी थीं, जिनमेंसे २२ अभी तक उपलब्ध हैं। उनका मूल संस्करण कभी छपा था। आश्चर्य है कि सिद्धसेन जैसे महिमाशाली मस्तिष्ककी इन कृतिओंकी ओर विद्वानोंका ध्यान कैसे नहीं गया?

सिद्धसेन गुप्तयुगके न केवल गम्भीर दार्शनिक थे, किन्तु उससे भी अधिक वे संसारिणी प्रज्ञासे समन्वित व्यक्ति थे। मेरी कल्पना है कि व्यक्तित्वके जिस क्षीररसकी उपलब्धि हमें पण्डित सुखलालजीमें होती है उसीके नवनीतसे सिद्धसेनका स्वरूप निर्मित हुआ था। उनकी द्वात्रिंशिकाओंको पढ़ते हुए मेरे मनमें उनके विषयमें विचित्र कल्पनाएँ आई हैं। श्री० पण्डितजीकी दृष्टिने सिद्धसेनके उस पक्षको पहचान लिया और सन्मतिप्रकरणकी प्रस्तावनामें उन सबका परिचय देनेके अनन्तर उनमेंसे एक द्वात्रिंशिका—वेदवादद्वात्रिंशिका—पर भाष्य लिखकर उस महान् आचार्यको पुनः हमारे दृष्टिपथमें लानेका उपक्रम किया है।

मनुष्यके शतसांवत्सरिक जीवनमें आयुष्यका भाग वही मानना चाहिए जिसमें सोद्देश्य कर्मकी आराधना की गई हो। पण्डितजीका जीवन उसीका निदर्शन है। विश्वके दिव्य कोषमें जो आयुष्य रूपी अमृत है, उसका शतधार प्रवाह पण्डितजीको प्राप्त हो यही ईश्वरसे प्रार्थना है—

"आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वम् आचार्याय।"

"आचार्य अमर हों—ज्ञान अमर हो, उसे अमर बनानेके लिये शिष्योंकी कड़ियाँ जुड़ती रहें।

શ્રીમાન પંડિત શ્રી સુખલાલજી

મુનિરાજ શ્રી પુણ્યવિજયજી

વિદ્યાગુરુ—શ્રીમાન પંડિત સુખલાલજી મારા વિદ્યાગુરુ છે. આપણા જીવનની પ્રગતિ માટેનાં જે વિવિધ અંગો છે તેમાં વિદ્યાગુરુ એ એક વિશિષ્ટ અંગ છે. મારા જીવનમાં મેં જે અનેકાનેક સાધુ વિદ્યાગુરુઓ અને ગૃહસ્થ વિદ્યાગુરુઓ મેળવ્યા છે. એ સૌમાં સર્વોચ્ચ સ્થાન હું બે વ્યક્તિઓને આપું છું. તેમાં પ્રથમ સ્થાન પૂજ્યપ્રવર, સતત જ્ઞાનોપાસનાપરાયણ, અનેક જ્ઞાન-ભંડારોના ઉદ્ધારક, વ્યવસ્થાપક અને શ્રી જૈન આત્માનંદ ગ્રંથરત્નમાળાના સંપાદક શ્રી ચતુરવિજયજી મહારાજનું છે, જેઓ મારા દીક્ષાગુરુ અને શિક્ષાગુરુ છે. જીવનના ચૌદમે વર્ષે મને મારી જન્મદાત્રી અને ધર્મદાત્રી માતાએ (જે આજે વૃદ્ધાવસ્થામાં જીવંત છે અને જેમનું નામ સાધ્વીજી શ્રી રત્નશ્રીજી છે) તેમના ચરણમાં સોંપ્યો અને તેમના જ શ્રીચરણોમાં હું દીક્ષા અને શિક્ષા પામ્યો. મારી યોગ્યતાનુસાર તેઓશ્રીએ અતિયોગ્યતાપૂર્વક મને અનેક વિષયોની જાતે તેમ જ અનેક પંડિતો દ્વારા ક્રમિક શિક્ષા આપી. અનેક પ્રકારનાં કાર્યોની કુશળતાની પ્રાપ્તિ પણ મને તેમના જ દ્વારા થઈ છે અને તેમના જીવનમાંથી મેં ઘણી ઘણી પ્રેરણા અને યોગ્યતા મેળવી છે. આજે મારામાં જે કાંઈ છે તેનું મૂળ આ ગુરુદેવ જ છે.

બીજું સ્થાન પંડિત શ્રી સુખલાલજીનું છે, જેમણે મને એકાંત આત્મીય-ભાવે અધ્યયન કરાવ્યું છે, તેમ જ પ્રસંગે પ્રસંગે મને અનેક વિષયોનું જ્ઞાન પુસ્તકો દ્વારા નહિ પણ મોઢેથી જ આપીને મારી દૃષ્ટિને તેમણે વિશદ બનાવી છે. મારા જીવનનો યોગ જ કોઈ એવો વિચિત્ર હશે કે જેથી હું મારા જીવનના પ્રારંભથી અનેક પ્રકારનાં કાર્યોમાં પરોવાઈ જવાને લીધે જીવનમાં અધ્યયન અતિ અલ્પ કરી શક્યો છું. તેમ છતાં મારા ઉપર વિદ્યાગુરુઓનો એવો પ્રેમ હતો કે જેથી આજે મારી એ ઊણપ કોઈની નજરે નથી આવતી; છતાં એ વાત તો દીવા જેવી છે કે મારું અધ્યયન અતિ અપૂર્ણ છે.

આ બંને ગુરુઓએ મારા તીખા સ્વભાવને આનંદથી જીરવીને પણ મને દરેક રીતે સમૃદ્ધ કર્યો છે. બે ગુરુઓમાંથી એક ગુરુશ્રી કે જેઓ મારા જીવનનું સર્વસ્વ હતા તેઓ તો આજે સ્વર્ગવાસી થઈ ચૂક્યા છે. પણ એક ગુરુ આજે વિદ્યમાન છે, જેમની પાસે આજે પણ હું અનેક રીતે અધ્યયન કરું છું. આજે જ્યારે પણ હું મારા આ વિદ્યાગુરુ પાસે જાઉં છું ત્યારે તેઓશ્રી,

ગમે તેટલા કાર્યવ્યસ્ત હોય તેમ છતાં, પોતાનું દરેક મહત્ત્વનું કાર્ય છોડીને પણ મારી સાથે અનાકુળપણે પોતાના અતિગંભીર અધ્યયન અને ચિંતનમાંથી ઉદ્ભવેલી અનુભવપૂર્ણ વાતો કરે છે, જેથી જીવનમાં નવું જ્ઞાન અને સ્ફુરણાઓ જાગે છે. ઉપર હું કહી આવ્યો છું કે મારા જીવનમાં મેં અધ્યયન ઘણું ઓછું કર્યું છે, તે છતાં મારા વિદ્યાગુરુશ્રીએ પ્રસંગે પ્રસંગે અનેકવિધ દાર્શનિક, શાસ્ત્રીય આદિ અનેક વિષયો મોઢેથી જ એવી રીતે સમજાવ્યા છે જેથી આજે લગભગ અનાબાધપણે હું મહાશાસ્ત્રોમાં પ્રવેશ કરી શકું છું.

આ રીતે મેં મારા જીવનમાં બે ગુરુઓ દ્વારા જીવંત પ્રેરણા મેળવી છે. તેમાં શ્રીમાન પંડિતજીનું સ્થાન પણ અતિવિશિષ્ટ છે. હું આ બંને ગુરુઓને અંતરમાંથી કદીયે વિસારી શકું તેમ નથી.

જ્ઞાનગાંભીર્ય અને પ્રતિભા—શ્રીમાન પંડિતજીએ તેમના જીવનમાં સર્વદેશીય જ્ઞાનની સાધના કરી છે. તેમનું જ્ઞાન કોઈ એક વિષયને લક્ષીને છે તેમ નથી. પણ તેમનું જ્ઞાન ઘણું વ્યાપક અને વિશ્વતોમુખી છે. જૈનસંઘમાં તેમની જોડી ભાગ્યે જ મળી શકે એટલું જ્ઞાન પંડિતજી ધરાવે છે. જૈન દાર્શનિક, આગમિક અને કર્મવાદ વિષયક સાહિત્યનું તેમણે ઘણા ઊંડાણથી અવગાહન કર્યું છે. વર્તમાન યુગમાં જૈનદર્શનમાન્ય અનેકાન્તવાદ વિશે તેઓએ તલસ્પર્શી ચિંતન કર્યું છે અને એ વિશેના સંખ્યાબંધ ચિંતનપૂર્ણ લેખો તેઓશ્રીએ લખ્યા છે, જેને આજે જૈનાચાર્યો અને જૈન મુનિવર્ગ આદરથી જુએ છે.

જૈનેતર દાર્શનિક સાહિત્ય, ઉપનિષદો આદિનું અધ્યયન અને ચિંતન પણ તેઓશ્રીએ એટલા જ ઊંડાણથી કર્યું છે, અને જ્યારથી તેમણે ઈંગ્લિશ ભાષાને સ્વાયત્ત કરી તે પછી તો તેમણે સેંકડો પાશ્ચાત્ય અને પૌર્વાત્ય વિદ્વાનોએ લખેલા તત્ત્વચિંતનપૂર્ણ સંખ્યાબંધ ગ્રંથોનું અવગાહન કરી પોતાના જ્ઞાનને અમર્યાદિત બનાવ્યું છે. એ જ કારણ છે કે શ્રીમાન પંડિતજી જ્યારે પણ એકના એક વિષયને ફરી ફરી ચર્ચે છે ત્યારે પણ તેમાં નવીનતા અને પ્રૌઢતનું સૌને દર્શન થાય છે. પંડિતજીની પ્રતિભા પણ એવી છે કે જેથી તેઓ પ્રત્યેક વિષયને ગંભીર રીતે સ્વાયત્ત કરી લે છે. આજે આટલી ઉંમરે પણ પંડિતજીનો શાસ્ત્રવ્યાસંગ લેશ પણ ઓછો થયો નથી પોતાની પ્રકૃતિને સ્વસ્થ રાખવા પંડિતજી ઘણી ઘણી લાંઘણો અને અર્ધલાંઘણો ખેંચી કાઢે છે, પરંતુ જ્ઞાનોપાસનાની લાંઘણ તેઓ ભાગ્યે જ કરે છે. ગમે તેવી પરિસ્થિતિમાં દિવસે કે રાતે શ્રીમાન પંડિતજીનું તત્ત્વચિંતન નિરાબાધપણે ચાલતું જ હોય છે.

શ્રીમાન પંડિતજી માત્ર શાસ્ત્રનિષ્ણાત કાશીના પંડિત જેવા પંડિત નથી, પરંતુ તેઓ ધાર્મિક, સામાજિક, રાજકીય ભાષાશાસ્ત્ર આદિ અનેક વિષયોનું ઊંડું જ્ઞાન ધરાવે છે. એ જ એમના જ્ઞાનગાંભીર્યનું સાધક બન્યું છે. આજે મને બાસઠ વર્ષ થવા આવ્યાં છે. તેમાં હું લગભગ મારા બાળપણથી જ એટલે કે વીસ વર્ષની ઉંમરે શ્રીમાન પંડિતજીનો વિદ્યાર્થી બન્યો છું. મેં પંડિતજીને સતત અધ્યયનપરાયણ અને ચિંતનપરાયણ જ જોયા છે. વિવિધ શાસ્ત્રોના વિવિધ વિષયોની તેમણે એક જ દષ્ટિએ નહિ, અનેક દષ્ટિએ છણાવટ કરી છે. તેમાં વિચારપરાઙ્મુખ સાંપ્રદાયિક ભાવનાને કદીયે સ્થાન આપ્યું નથી. તે છતાં તેઓશ્રીએ સાંપ્રદાયિકતાને કદીયે નિરુપયોગી માની નથી; પરંતુ એ સાંપ્રદાયિકતા એવી ન હોવી જોઈએ કે જીવન-વિકાસના માર્ગ અને સત્ય-જ્ઞાનની આરાધનામાં બાધક થાય. શ્રીમાન પંડિતજીએ જૈનદર્શનના આ વ્યાપક દષ્ટિબિંદુને લક્ષમાં રાખીને જે વિદ્યાસાધના કરી છે તેથી જ તેમની દષ્ટિ અતિગંભીર, સત્યાન્વેષી અને તાત્ત્વિક બની છે.

ધારણાશક્તિ—શ્રીમાન પંડિતજી જોકે શતાવધાની નથી, તે છતાં તેમની સ્મરણશક્તિ અતિ જીવંત છે. જીવનના આદિકાળથી તેમણે જે જે અધ્યયન કર્યું છે એ બધા વિષયો આજે પંડિતજીને માટે તાજા જ જોવામાં આવે છે. મોટે ભાગે અધ્યયન કરનાર માટે એવું હોય છે કે જે વિષયનો જ્યારે અભ્યાસ કરતા હોય ત્યારે તો તે સાજાતાજા હોય છે, પણ પાછળથી તે નહિવત્ બની જાય છે, જ્યારે પંડિતજી માટે તેમ નથી. દા. ત. પંડિતજીને આપણે કોઈ સંસ્કૃત ભાષાના પ્રયોગ વિષે કાંઈ પૂછીએ કે આ શબ્દપ્રયોગ વિષે કેમ સમજવું, ત્યારે પંડિતજી સિદ્ધહેમવ્યાકરણના અધ્યાય, પાદ અને સૂત્ર સુધ્ધાંનો નંબર આપીને આપણને જવાબ આપશે એ જ રીતે બીજા વિષયોમાં પણ આપણે પૂછીશું તો તે તે વિષયના મૌલિક સ્થાનોની યાદી આપવા પૂર્વક જ પંડિતજી આપણી સાથે વાત કરશે. દરેક વિષયમાં આવી તાજી સ્મૃતિ એ પંડિતજીની અવધાનશક્તિ કે ધારણાશક્તિનો જીવંત પુરાવો છે.

બીજી રીતે આપણે પંડિતજીની ધારણાશક્તિ અને સ્મૃતિને જોઈએ. તેઓશ્રી જ્યારે કોઈ ગ્રંથને કે વિષયને હાથમાં લે છે, ત્યારે એક જ ગ્રંથની અનેક વ્યાખ્યાઓ કે તે તે વિષયના અનેક ગ્રંથોને એકી સાથે સાંભળી લે છે, અને ત્યારબાદ કયા કયા વ્યાખ્યાકારો કે ગ્રંથકારોએ કઈ કઈ રીતે તે તે વિષયનું પ્રતિપાદન કર્યું છે, કયાં કયાં એકબીજાનાં મંતવ્યો જુદાં પડે છે, તે તે આચાર્યોના પ્રતિપાદનમાં કઈ કઈ વિશેષતાઓ છે, ઇત્યાદિનું પૃથક્કરણ

તેઓ બરાબર કરી લે છે. સેંકડો શ્લોકપ્રમાણ અનેક ગ્રંથસંદર્ભોને સ્મરણમાં રાખી તેનું આવું પૃથક્કરણ કરવું એ પંડિતજીની ધારણા અને સ્મરણશક્તિનો સચોટ પુરાવો છે.

સામાન્ય રીતે લોકોમાં કિંવદન્તી ચાલે છે કે 'સાઠી બુદ્ધિ નાઠી.' આ કિંવદન્તી સામાન્ય જડ જનતા માટે સાર્થક હશે, પરંતુ જ્ઞાનોપાસનાપારાયણ વ્યક્તિઓ માટે એ કદીયે સાર્થક નથી, જેની સાક્ષી શ્રીમાન પંડિતજી પૂરે છે. આટલી ઉંમરે પણ પંડિતજીની સ્મરણશક્તિ સ.જી-તાજી છે; એટલું જ નહિ, પણ તે સ્મરણશક્તિ આજે યૌવનવયે પહોંચી છે.

શું પ્રાચીન કાળમાં કે શું આજના યુગમાં આપણને આવા ઢગલાબંધ પુરાવાઓ મળી આવશે કે જેમનું જીવન ચિંતનપરાયણ હોય છે. એવી વ્યક્તિઓની બુદ્ધિ, સ્મૃતિ કે પ્રતિભા માંદગીમાં કે મૃત્યુની અન્ત્ય ક્ષણ પર્યન્ત જેવીને તેવી જ રહે છે. સ્થવિરશ્રી વજ્રસ્વામીએ આર્યરક્ષિતને જીવનના અંત પર્યન્ત વિદ્યાધ્યયન કરાવ્યું હતું. સ્થવિરશ્રી આર્યરક્ષિતસૂરિ એકસો વીસ વર્ષની ઉંમરના હતા. તેમણે પોતાના વિદ્વાન શિષ્ય સ્થવિર આર્યદુર્બલિકા પુષ્યમિત્રને જીવનના અંત સુધી વિદ્યાદાન દીધું હતું માથુરી અને વલભી વાચનાના પ્રવર્તક સ્થવિરો પણ વૃદ્ધ હતા. વિશેષાવશ્યકભાષ્ય ઉપર સ્વોપજ્ઞ ટીકા લખનાર આચાર્ય જિનભદ્રગણિ ક્ષમાશ્રમણ છઠ્ઠા ગણધરવાદ સુધી ટીકા લખતાં લખતાં કે લખીને સ્વર્ગવાસી થયા. આચાર્યશ્રી હરિભદ્રસૂરિ તત્ત્વાર્થની ટીકા રચતાં રચતાં જ પરલોકવાસી થયા. આચાર્યશ્રી મલયગિરિ આવશ્યક-સૂત્રની અને બૃહત્કલ્પસૂત્રની વ્યાખ્યાઓ અપૂર્ણ રાખીને દેવલોકવાસી થયા. છેલ્લા છેલ્લા ન્યાયવિશારદ ન્યાયાચાર્ય મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી પણ સંખ્યાબંધ ગ્રંથોને અધૂરા રાખી સ્વર્ગસ્થ થયા. પ્રાચીન યુગમાં થઈ ગયેલા સંખ્યાબંધ મહાનુભાવોમાંથી બે-પાંચની આ વાત થઈ. વર્તમાનમાં પણ આજે વૃદ્ધાવસ્થામાં રહેલા અનેક મુનિવરો એવા છે કે જેઓ સતત અધ્યયનપરાયણ રહે છે. આગમોદ્ધારક શ્રીમાન સાગરાનંદસૂરિ મહારાજના મેં છેલ્લાં છેલ્લાં સુરતમાં દર્શન કર્યાં, ત્યારે તેમને ઘણીવાર વાયુની અસહ્ય તકલીફ રહેતી. ત્રણ ત્રણ દિવસ સુધી સુવાય, બેસાય કે ઉઠાય નહિ. એવી અવસ્થામાં પણ તેમની પાસે કાગળ, પેન્સિલ પડ્યાં જ હોય. આ અવસ્થામાં જે સ્ફુરણા થાય તેને પોતે તરત ટપકાવી લેતા. આ જ રીતે જૈનેતર અને પાશ્ચાત્ય તત્ત્વચિંતકોની અનેક હકીકતો આપણી સામે છે. જે ઉપરથી આપણને એ ખાતરી થાય છે કે જેમનું જીવન જ્ઞાનોપાસનામય અને તાત્ત્વિક ચિંતનમય હોય છે

તેમની ચૈતન્યશક્તિઓ જીવનની અન્ત્ય ક્ષણો પર્યંત જીવતી જાગતી જ રહે છે. શ્રીમાન પંડિતજીની પણ ચૈતન્યશક્તિ સુચારુરૂપે જીવતી જાગતી જોવામાં આવે છે.

ગુણગ્રાહકતા—પંડિતજીની દૃષ્ટિ હંમેશાં ગુણગ્રાહિણી જ રહી છે. ગમે તે સંપ્રદાયનાં શાસ્ત્રો વાંચે, ગમે તેવી વ્યક્તિનાં લખાણો વાંચે કે ગમે તે વ્યક્તિનો પરિચય સાધે,—એ બધાય પ્રસંગોમાં તેમની દૃષ્ટિ ગુણગ્રાહિણી જ રહી છે, એ તેમનાં લખાણો ઉપરથી અને તેમની સાથેના વાર્તાલાપ પરથી અનુભવી શકીએ છીએ. શ્રીમાન પંડિતજીનું ગુણગ્રાહકપણું કેવું છે તેનાં ઉદાહરણો તો મારી પાસે અનેક છે; પણ તેમાંનું એક પ્રસંગોપાત્ત ટાંકું છું. એક વાર હું અને પંડિતજી સાથે બેઠા હતા, ત્યારે વાર્તાનો કોઈ પ્રસંગ આવતાં તેમણે આચાર્યશ્રી લાવણ્યસૂરિ વિરચિત સિદ્ધસેનીયા દ્વાત્રિંશિકાઓની ટીકા અને મુનિશ્રી ધુરંધરવિજયજીએ તૈયાર કરેલ નિહ્નવવાદ આદિ વિષયમાં વાત કરી કે—"મહારાજજી! મેં આ ગ્રંથો જોયા. વસ્તુના પ્રતિપાદનની શૈલી ગમે તેવી હો, પણ જ્યારે વ્યક્તિને વસ્તુ બરાબર ગ્રાહ્ય થઈ હોય ત્યારે વસ્તુના હાર્દને તે પોતાના લખાણમાં ઉતારી શકે છે, અને એ રીતે આવાં લખાણો તાત્ત્વિક દૃષ્ટિએ આદરપાત્ર છે." આ તો માત્ર એક ઉદાહરણ જ આપ્યું છે. પણ પંડિતજી સાથે વાતો કરવામાં અનેકાનેક પ્રસંગોમાં તેમની ગુણગ્રાહકતા તરી જ આવે છે. આ ગુણગ્રાહકતાને લીધે જ તેઓ હરેક વિષયમાં તટસ્થ પરીક્ષણ પણ વ્યવસ્થિત રીતે કરી જાણે છે

સ્વાતંત્ર્ય—પંડિતજી જીવનવ્યવહારમાં અને વિચારોમાં હમેશાં સ્વતંત્ર રહ્યા છે. પોતાની વિદ્વત્તા વિષે તેમને કદીયે અભિમાન જાગ્યું નથી. કોઇ પ્રલોભન તેમને કદીયે આકર્ષી શક્યું નથી. તેમના જીવનમાં એવા ઘણા પ્રસંગો આવ્યા છે, જેમાં અનેક જુદી જુદી વ્યક્તિઓએ તેમને અનેક રીતે આકર્ષવા પ્રયત્ન આદર્યા છે, પરંતુ જ્યારે તેમને ખબર પડે કે આ બધું પ્રલોભનરૂપ છે, ત્યારે તેમણે સામી વ્યક્તિને સાફ સાફ કહી જ દીધું છે કે—"તમારા પક્ષમાં કે વાડામાં આકર્ષવા માટે કે અમુક ઉદ્દેશથી જ જો આ હોય તો આપણો સંબંધ અહીં જ પૂરો થાય છે." પંડિતજીને નામે કોઈ ફળ વેચી ખાવા માગે તો તે કદીયે શક્ય નથી. પોતાની પ્રજ્ઞાને ગીરો મૂકીને તેઓ કદી વાત કરતા નથી. એવો પ્રસંગ ઉપસ્થિત થતાં જ તેઓ તેને કાપી નાખે. તેઓ પોતાના વિચારોમાં હમેશાં સ્વતંત્ર જ રહ્યા છે. કોઈનાય ગમા—અણગમાની કે માનાપમાનની તેમણે આ માટે દરકાર રાખી નથી. તેમ છતાં પોતાના વિચારો અયોગ્ય ભાસતાં તેનું પરિવર્તન કરવામાં પણ તેઓ આનાકાની કરે તેવા નથી.

પંડિતજીની સેવા—શ્રીમાન પંડિતજીએ વ્યાપક રીતે જૈન પ્રજાની જે સેવા કરી છે તે ચિરસ્મરણીય જ રહેશે. તેમણે જૈન તત્ત્વજ્ઞાનના પ્રાસાદભૂત સન્મતિતર્ક જેવા મહાન ગ્રંથને સંશોધિત કરીને એક મહાન કાર્ય કર્યું છે. તે ઉપરાંત પ્રમાણમીમાંસા, જ્ઞાનબિંદુ આદિ ગ્રંથોને સુયોગ્ય રીતે સંપાદિત કર્યા છે. દેવેન્દ્રસૂરિકૃત કર્મગ્રંથોનો હિંદી અનુવાદ તેમણે કર્યો છે. આજ સુધીમાં તેમણે વિવિધ વિષયના ચિંતનપૂર્ણ લેખો લખ્યા છે. આ બધાં કાર્યોમાં ક્યારેક એકબીજાને ગમતી અણગમતી બાબતોનો સમાવેશ થવા છતાં વિજ્ઞ જૈન પ્રજા પંડિતજીની વિશિષ્ટ સેવાનો સ્વીકાર કરશે એમાં લેશ પણ શંકાને સ્થાન નથી.

અંતિમ નિવેદન—શ્રીમાન પંડિતજીએ જીવનમાં અતિવિશાળ ચિંતનપૂર્વક વિદ્યાસાધના અને આરાધના કરી છે; એટલું જ નહિ, પણ ભાઈ દલસુખ માલવણિયા જેવા પોતાની જ કક્ષાના તત્ત્વચિંતક શિષ્યને પણ તૈયાર કર્યા છે. ઉપરાંત ડૉ. નથમલજી ટાટિયા, શ્રીમતી ડૉ. ઇન્દુકળાબહેન વગેરે અનેક વ્યક્તિઓ માટે પ્રૌઢ વિષયના મહાનિબંધ (થિસિસ) લખવામાં સાક્ષી અને પ્રેરણાદાયક બન્યા છે. અનેક વિદ્વાનોએ એમની પાસેથી ગંભીર વિચારો મેળવ્યા છે, અને મારો વિશ્વાસ છે કે પંડિતજી પોતાની જિંદગીમાં ઘણું ઘણું કરી જશે. છતાં ય મારી એક હક્કદાર શિષ્ય તરીકે ભીખ છે કે શ્રીમાન પંડિતજીએ પોતાના જીવનમાં અધ્યયન કરતાં આચાર્યશ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર, આચાર્યશ્રી મલ્લવાદી, યાકિનીમહત્તરાપુત્ર શ્રી હરિભદ્રાચાર્ય અને યશોવિજયોપાધ્યાય વિશે અને તેમના ગ્રંથરાશિ વિશે પોતાના હૃદયમાં જે વ્યાપક અને ગંભીરાતિગંભીર વિગતોનો સંચય કર્યો છે તેને યથાસમય મૂર્ત રૂપ આપી ભારતીય પ્રજાને અને તે સાથે જૈન પ્રજાને સમૃદ્ધ બનાવે. મારી આ ભીખ માત્ર તટસ્થ રહીને મોઢાની જ ભીખ નથી, પણ તે અંગે જે કાંઈ સાધનો આવશ્યક હોય તે બધાંય પૂરા પાડવાની પ્રતિજ્ઞા સાથેની ભીખ છે. તે માટે અતિ આવશ્યક આર્થિક સાધનનો પણ આમાં સમાવેશ કરીને જ હું ભીખ માગી રહ્યો છું. હું તો વર્ષોથી આવી આશા રાખું છું અને શ્રીમાન પંડિતજીને પ્રસંગે પ્રસંગે વિનંતિ પણ કરું છું અને આજે ગુરુગુણગાન-પ્રસંગે પુનઃ પણ વિનવું છું.

શ્રીમાન પંડિતજીએ પ્રસંગે પ્રસંગે ઉપર્યુક્ત મહાપુરુષો વિષે જે ટૂંકી ટૂંકી નોંધો કરી છે અને જે ભાવો વ્યક્ત કર્યા છે તે જોયા પછી અનેકાનેક જૈન વિદ્વાન મુનિવરો અંતરથી માને છે કે આ મહાપુરુષોનું તાત્ત્વિક જીવન અને એમના ગ્રંથરાશિનું તાત્ત્વિક પરીક્ષણ શ્રીમાન પંડિતજી સિવાય આલેખી શકે એવી બીજી એક પણ વ્યક્તિ જૈન સમાજમાં તેમ જ અન્ય સમાજમાં છે જ નહિ.

अञ्जलिः

पं० श्री रामकुबेर मालवीय, साहित्य-प्रधानाध्यापक

वनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

वभूव यो भारतवर्षभूमौ सौराष्ट्रदेशे रमणीयशोभे ।
यो लीमलीग्रामनिवासभूमिः श्रीसंघजीनामकवैश्यसम्राट् ॥१॥
स संघवीगोत्रविभूषणं सच्छ्वेताम्वरो जैन इति प्रसिद्धः ।
सर्वस्य लोकस्य महोपकर्ता प्रेम्णा सतां मानसमाचकर्ष ॥२॥
तस्यैव पुत्रः कमनीयमूर्तिर्महाप्रभावो मतिमान् सुधीरः ।
वाल्येऽपि यस्य प्रतिभा प्रगल्भा शीलं सदानन्दकरं वुधानाम् ॥३॥
काशीमनुप्राप्य गृहीतवान्यः शिक्षां विशिष्टां किल देववाण्याम् ।
शनैः शनैः ख्यातयशा वभूव सुपण्डितः श्रीसुखलालजैनः ॥४॥
न्यायस्य जैनस्य समर्थवेत्ता तथाऽन्यशास्त्रस्य स पारदर्शी ।
विद्याविभूत्या विनयेन सद्यः संख्यावतां मानसमध्युवास ॥५॥
न्यायं तु नव्यं समधीत्य विद्वान्च्छ्रीवालकृष्णाद्भुवि पण्डितेन्द्रात् ।
श्रीमालवीयेन महात्मना यो विद्याकृतं गौरवमाससाद ॥६॥
सरस्वतीपादसरोजसेवया ततो गुरोरङ्घ्रिरजोऽनुकम्पया ।
यो विश्वविद्यालय एव काश्यामध्यापकोऽभूत् प्रथितो गुणौघैः ॥७॥
विद्यासदभ्यासविमण्डितान्तस्सुपण्डिताः के न भवन्ति भव्याः ।
परन्तु विद्वान् कथितो भवान् यो मनोगतं संशयमुच्छिनत्ति ॥८॥
अन्धोऽपि यो दृष्टिविशेषयुक्तो लोकेषु शास्त्रेषु च दृष्टसारः ।
कृशोऽपि यो ह्यात्मवलप्रगल्भो जितेन्द्रियः सत्सु सुलव्धमानः ॥९॥
करेण यो लेखनशक्तिहीनः परं प्रसिद्धस्तु सुलेखको यः ।
तमेव विद्यागुरवोऽतिमान्या अवस्थितं गौतममामनन्ति ॥१०॥
शिक्षासमुद्भासितमानसान्तःशिष्यास्त्वदीया विचरन्ति लोके ।
सहस्रशश्चन्द्रमयूखरम्यां समुज्ज्वलां कीर्तिमुदाहरन्ति ॥११॥
भवद्गुणानां सुरनिम्नगायां स्नानेन वाणी किल मामकीना ।
अतीवनैर्मल्यमवाप्नुवाना कं कं गुणं नैव तु संनिधत्ते ॥१२॥
भवत्सुहृद्-रामकुवेरसंज्ञैः साहित्यवित्सेवकमालवीयैः ।
श्रीमत्सु जैनेन्द्रधुरन्धरेषु पद्यप्रसूनाञ्जलिरर्पितोऽयम् ॥१३॥

वनारस, ९-७-'५७

A Pure-hearted Servant of Light

Shri Gurdial Malik

In the days of noise and show, quiet and consolidated work is rather rare. To me revered Pandit Sukhalalji, therefore, is a monument of such unusual achievement. His wide and varied and deep scholarship is reminiscent of Rishis of old. His unbounded zeel for, and pursuit of, knowledge have helped him triumph over handicaps of all sorts.

Panditji, however, is not only an encyclopaedia of learning, but he is also a man of character with rocklike rectitude. Thus, he is, every inch of him, a devoted and dynamic seeker of the Word of which the Bible says, " The Word was God and with God."

Panditji is, indeed, a pure-hearted and pure-minded servant of the Goddess of Light.

My humble and reverent salutations, therefore, to him. May his shining example imbue me with ever-increasing and ever-deepening aspiration after, and inquiry for the Light " that was, is and ever shall be."

Original Thinker

Dr. T. R. V. Murti

Sayaji Rao Gaekwad Professor of Indian Civilization and Culture, Banaras Hindu University.

I feel greatly honoured in associating myself in paying my respectful felicitations on the Revered Pandit Sukhlalji's completion of seventy five years of age. Panditji has dominated the world of Indian philosophy and religion for the last forty years and more by his deep scholarship and noble personality. His philosophical writings on various topics and the scores of his learned and critical introductions and notes to philosophical classics will stand as abiding monument to his peculiar genius and scholarship.

I came into contact with the Revered Panditji nearly twenty years ago when he was actively teaching in the Benares Hindu University as the incumbent of the Jain chair of Logic and Metaphysics in the Sanskrit Mahāvidyālaya. I have been privileged to enjoy his valued friendship all these years. Numerous were the occasions when we have had lively philosophical discussions on the road-sides or in his study; most of these just occurred without pre-arrangement or set purpose. And seldom have I come back from these discussions without receiving new light or striking interpretations even on subjects which I thought I understood quite well. Of course, Panditji's scholarship of Indian thought is surprisingly comprehensive and deep; and his memory is phenomenal. I should however like to record what has specially impressed me in his personality. Pandit Sukhlalji is an original thinker, a restless one. He would look at a theory now from this, now from that angle; he would often-times revise and reverse his own previous conclusions on the subject. The open-mindedness of his spirit, his sensitivity to all aspects of a problem and his

indefatigable persistence in the search of truth have impressed me as worthy of emulation. I have no manner of doubt that Panditji is an authentic and worthy representative of the spiritual line of Indian seers. It is not surprising that his outspoken and independant views have not found favour with some sections of Hindus and Jainas. A fearless thinker, a seeker of truth is not worried, as Panditji is not, by the thought of secular gains and losses. I have not known him utter an unfair or uncharitable remark about any person or get upset by adverse happenings. With few easily satisfied wants and an equanomous temperament, he has been a living example of a true philosopher, a Sthita-prajña. As an original thinker and as a man of striking spiritual virtues, Panditji has been successful in inspiring a circle of young men like Pandit Dalsukhbhāi Mālvaniyā and others. This is not one of the least of the many services that he has rendered to our cultural life. May the Revered Panditji live for many more years amongst us as a beacon of courageous and spiritual insight.

Banaras-5, 8-5-1957

Pandit Sukhalalji

A Dynamic Litterateur

Professor Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur

Prajñāchakṣu Pandit Sukhalalji is one of the great Indian authors and thinkers : he has enriched contemporary learning and thought by his manifold writings in Hindī and Gujarātī. If some of us do not know him, it is because our study and reading, nowadays, do not go beyond our specialised branches of learning and favourite languages: that is a hurdle which we must cross and understand and appreciate a writer like Pandit Sukhalalji who has rendered a progressive, purposeful and fruitful contribution to the wealth of human thought.

The personality of Pandit Sukhalalji has manifold aspects. Those who have met him know that he has lost his eyesight at an early age. His figure is frail; and left to himslef, he would not catch the attention of anybody. But, if one gets an opportunity to discuss any serious topic with him, one will come to know within a few minutes that behind his frail figure there is a mighty spirit full of power, founded on extensive learning and equipped with an all round vision of multitudinous problems about life and literature. Pandit Sukhalalji's physical disability going with an outstanding scholarship and abiding literary output reminds me of that great English poet, John Milton. What Panditji really is, is not easily indicated from what he appears to be at the first sight. He is a gem of great lustre and value, but it is a matter of surprise that they are concealed behind a simple appearance.

By his age Panditji belongs to the last generation; but by his vision and thoughts he not only lives in the living present but he is also ahead of his times. Those who have steadily read his articles and studied his works know

that by his education, obviously of the traditional type, he is a Naiyāyika (theologian-logician), a Vaiyākaraṇa (grammarian), a Dārśanika (philosopher) and a Dharmajña (religious expert), as far as his basic equipments go. But his format is something different from the hackneyed type. His studies of Nyāya and Darśana works like the Sanmati-tarka, Pramāna-mīmāṁsā, Jñānabindu, Hetubindu and Tattvo-paplavasiṁha clearly indicate that his equipments and consequent discussions have something characteristic about them. Nowadays the terms 'Indian' and 'Bhāratīya' are very often used but with a limited import. There are many writers who talk of Indian philosophy, but basically they do not go beyond the Vedānta of one school or the other. Whenever Panditji writes on any topic, it may be the theory of knowledge, the path of Yoga or the means of liberation, one finds in his writings a comprehensive study and a cosmopolitan outlook; and the material from the Brāhmanic, Buddhist and Jaina systems of thought is ably marshalled and releventIy focussed with a view to elucidate a certain topic. The keen intellect of Panditji pierces to the very core of signification behind the varied terminology employed in different systems of Indian thought. In our land there are few Pandits who have such a vision as is evidenced by the writings of Pandit Sukhalalji.

It has become customary with our Pandits to find weak points in other systems than the one which they stand for and then criticise them with all the vehemence at their command. But Pandit Sukhalalji generally adopts the Anekānta mode of thinking and arguing, and he is an exception. As a Dārśanika he finds in different religions a common ground which is conducive to the welfare of humanity. He worthily represents the line of great Indian Dārśanikas like Samantabhadra, Siddhasena, Haribhadra and Hemachandra. Panditji possesses an insatiable thirst for knowledge and is out for an earnest search for Truth.

Pandit Sukhalalji is one of the living authorities on Jainism. His studies in Jainism are all along carried on in the broad perspective of the Indian pattern of thought and learning. His exposition of the Sanmati-tarka and the Tattvārtha-sūtra, his studies in the Jaina Karma doctrine, his elucidation of Yoga, his appraisal of the personalities of Vṛṣabha and Mahāvīra are solid contributions towards a sympathetic understanding of Jainism. Howsoever difficult a subject might be, in the hands of Pt. Sukhalalji its exposition becomes lively and thought-provoking. His interpretations of the Stutis of Siddhasena and of the Adhyardha-śataka of Mātṛceṭa clearly show that here is a scholar who can put himself at the point of view of the author himself and try to understand the circumstantial setting and the world of thought and learning which were responsible for the mental make-up and literary expressions of the author.

Panditji has a typical method of study of his own. The realm of knowledge for him recognises no religious, racial, temporal and geographical barriers; and the human thought-process, as he understands it, is a continuous and connected flow. Naturally, unlike most of the Pandits, with whom he shares a thorough grounding in traditional learning, he brings to bear upon his studies the modern instruments of the historical and comparative method of study. This endows the writings of Panditji with an abiding and universal appeal.

Pandit Sukhalalji has contributed a number of papers on religion and its effect on society. Religion for him is not a time-worn instrument only to be worshipped, but he wants it to be a living force to be employed for the amelioration of the society as a whole. He has never hesitated to explode the myths of credulity and exploitation in one form or the other. He would always insist upon the basic in the Religion, but not hesitate to allow the

amplifications to fall in line with the progressive forces of the present-day times. The thoughts of Pandit Sukhalalji in this respect deserve special attention from all serious thinkers of religious values and social progress.

There is something characteristic about the style of Panditji, whether he writes in Hindī or Gujarāti. There is a simplicity: it is like himself: simple in expression but pregnant with signification. There is precision, and there is a pointed appeal in all that he writes. His Gujarāti style reminds me of the chaste and simple expression in which Mahātmāji wrote his Ātmakathā. Unlike Mahātmāji, Panditji is really a Pandit by traditional learning and training but when he writes on any social topic, his thoughts and expressions run very parallel to those of Mahātmāji; and one has to admit that these two great men, though working in different fields, have forcefully strengthened the Gujarātī expression and style in this century. Their names will be remembered as successful moulders of Gujarātī language as a vehicle of higher thoughts. If Pandit Sukhalalji meant, he conld have loaded his Gujarātī expression with high sounding Sanskrit words, as was done by some contemporary writers in Mahārāṣṭra; but he is a cosmopolitan by his Anekānta method of study: he has never written just for a handful of intellects but always addressed a wider society in a simple language with a view to make his thoughts as widely appealing and popular as possible.

Panditji has a dynamic personality: not only is he an embodiment of simple living and high thinking, but he sheds round him an effulgent reflection of his mode of living and of his height of thinking. It is a pleasure to differ from him. When Panditji finds that there are basic differences, he lays them bare with searching arguments, with appealing illustrations and with humorous anacdotes; and then with a fund of worldly wisdom, with a sense of

fairness and justice and in a pursuasive tone he argues out the entire situation. And when you leave Panditji, after such a treat, you find that you have returned definitely wiser and soberer. Panditji is a light of learning which enkindles your thinking power: wherever he stays, he creates round him atmosphere of study and progressive thinking.

The enormous literary output which we owe to Pandit Sukhalalji is an outcome of extensive study and intensive thinking. Whatever subject he takes up for study, he invests it with originality of thought and cosmopolitan outlook. His expositions of Ahiṁsā and Anekānta are at once unique, and they present an essence of his deep learning. Panditji is a scholar, a teacher and even a preacher embodying in himself the best of their qualities; and he is all along struggling to educate the society round about him.

3rd April, 1957.

Rajaram College, Kolhapur

Pandit Sukhlal Sanghavi

An Appreciation

Mahāmahopādhyāya Vidhuśekhara Śāstrī

Pandit Shri Sukhlalji Sanghavi is one of the greatest Sanskrit scholars in India, of whom everyone should feel proud not only in this country but also abroad. He was born in 1880 A. D. at Limbli near Wadhwān (Kāthiāwād). His education began, as usual, in a school in which he read only Gujarāti up to the 7th class. Unfortunately, however, owing to a virulent type of small-pox he lost his eyes being completely blind at the age of sixteen. But nobody then could have the remotest idea that this boy was destined to become a great Sanskrit savant in our country. Indeed, though he was deprived of his Maṁsa-Chakshus 'fleshy eye', he was destined to be a Prajñā-Chakshus 'having the eyes of wisdom' of the highest class. In fact, his real education began after his unfortunate blindness, when he had to depend completely on his reader. From the very beginning he had a genuine love for Sanskrit and Philosophy. From Kāthiāwād he came to Benares. There he studied Nyaya under the late Mm. Pandit Vamācharaṅa Bhattachārya whom I am proud to call a satīrtha (fellow-student) of mine under the late Mm. Pandit Kailasachandra Bhattāchārya. For his study he had to travel also to Mithila where he read under several teachers, the most prominent of whom was Mm. Pandit Bālakrishṅa Mishra. Here a short event in his life happend which for its interestingness may be recounted. His pecuniary condition was not good, and it is well-known how a Sanskrit student lives in the house of his teacher. He had a sweater on his body which his poor Sanskrit teacher saw and praised. Pandit Sukhlalji offered it to him next day without thinking as to how he could pass the severe winter of Mithila. And what he did ? He passed the cold nights spreading over

him a few bundles of straw covering them with a worn-out rug. In his student life he did not take more than Rupees 2 or 3 a month for his board. Such was his vow. From Mithila he came back to Benares, and here for some years he studied different branches of Sanskrit philosophy and literature for which he devoted all his time day and night, and thus acquired a comprehensive knowledge of Sanskrit literature as a whole, mastering most difficult works in it.

By religion he is a Jaina, and naturally he studied Jaina Sanskrit and Prakrit literatures embracing all their different branches. On Jainism there is none who can be considered his rival.

From Benares he came back to Gujarāt. But before coming there he had passed some time in Agra being engaged in editing, with Hindi translation and annotation as well as his own valuable introductions, some highly interesting religious and philosophical books, such as Pancha-Pratikramaṇa, the first four Karma-Granthas, Yogadarśana and Yogaviṁśika. In Gujarāt, he was appointed a professor of Indian Philosophy in the Purātattvamandira of the Gujarāt Vidyapītha or the National University established by Mahatma Gandhi. The specially notable work he was engaged in there was the edition of big work covering not less than 900 pages with various valuable and useful indices and appendices of Abhayadeva's commentary on the Sanmatitarka of Siddhasena Divākara, the first author of Logic in Jainism. Here it should be mentioned that Pandit Sukhlalji in this great work was assisted by Pandit Bechardās Doshi of Gujarāt, a renowned Sanskrit and Prakrit scholar and author. This work is in five volumes and not less than ten years he devoted in editing this. As already stated he is a blind man, and it is surprising to note that he undertook the work and finished it very creditably with his learned and precious notes showing his profound scholarship in every line. It will be interesting to

note as to how a blind man as he was could edit such a book just as can reasonably be expected from a modern scholar conversant with scientific method of editing. He sits in his study surrounded by a number of his pupils or co-workers each with a manuscript in hand and he asks each of them to read out the variants one after another, he himself thinking over them deeply in order to choose the best reading that can be put in the body, other readings being relegated to the foot-notes. In editing the book he has done the most valuable and at the same time difficult work. In this work he had to work and labour day and night and so he was obliged to take perfect rest for some time.

As a Naisthika Brahmachārin (a 'life-long celibate' as he is) his necessities of life are naturally very few and he does not care to earn much, being satisfied as an ideal scholar with whatever he earns. From his honorarium or remuneration he maintains one or two assistants to help him in his work.

From Gujarāt he came to Benares Hindu University in 1933, being appointed there as the Professor of Jain Philosophy and retired voluntarily from service in 1944. During this time he wrote and edited a number of valuable works in Sanskrit, Hindi and Gujarāti. His commentary and translation work both in Gujarāti and Hindi of the Tattvarthasūtra, which is widely studied in Jainism, by Umāsvāti who is considered to have been the first Sanskrit writer in Jainism, are most important for those who desire to understand the real significance of the text in clear and lucid language elucidating all the knotty points in the work. The introductions to his editions of the Jñanabindu and Pramāṇamīmāṁsā are real contributions to Sanskrit logical works. His elaborate commentary in Gujarāti on the Sanmati-tarka already referred to can be written only by a man of his calibre.

His edition of Tattvopaplavasiamha of Jayarāśi Bhatta in the Gaekwad's Oriental Series deserves to be specially mentioned as it is the systematic work from the Chārvāka point of view refuting all the different Indian philosophical systems. The Hetubindu is one of the most valuable works on Buddhist logic by Dharmkīrti and there is a commentary on it by Archata. There are Tibetan translations of these two works. The Sanskrit of this tīka is being edited by Panditji in the G. O. S. and this edition will contain also the sub-tīka of Durveka Miśra on it. The manuscript of the sub-tīka was secured from some photographs taken by Mahāpandita Rāhula Sānkrityāyana in Tibet, which are preservəd in the Bihar and Orissa Research Society.

Pandit Sukhlalji is respected in learned society not only as a profound Sanskrit scholar but also as a man of character. He is free from all sorts of dogmatism of sectarianism. His thoughts are not bound by any narrowness as he always is used to view things in historical perspective following strictly pure reason and rationalism. It is for this that he is respected much more among the non-Jainas than by his orthodox co-religionists. For his liberal views he is sometimes called by them as a heretic even in abusive words. But as a true scholar he is not moved by it. For instance, one of his latest monograms entitled Nirgrantha-Sampradāya is Hindi may be referred to.

It deals with the customs and practices of Jaina monks giving comparative views as found in ancient Buddhist and Brāhman works. Among other things he has discussed here the practice of meat-eating among the Jaina monks. Being himself a Jaina certainly it is no mean courage to assert that the Jaina monks once used to take meat in exceptional cases. It may be mentioned *en passant* that in this respect the only parallel to Panditji is Muni Jinavijayaji, a prominent figure in Gujarāt and Bombay in connection with the organisation of educational institutions.

I can in no way conclude this brief appreciation without mentioning one thing which I consider to be the most outstanding trait of his character. He does not pay so much heed even to his studies as to the thoughts of the all-round well-being of his pupils. He is not satisfied with the superficial knowledge of his students, but always insists on their acquiring thoroughness of the subject, himself helping them as far as possible in every way, even arranging for pecuniary help. Pandit Sukhlalji is not a Sādhu formally renouncing the world, but truly speaking he is a real Sādhu. He has no home to live in. Yet he does not feel any inconvenience as he is a welcome guest wherever he goes.

Modern Review : July, 1947: p. 45 to 47

Champion of Justice and Truth

Dr. Satkari Mookerjee, M. A.; Ph. D.

Director, Nālandā Pāli Institute.

Our scholars, thinkers and philosophers, who have been nurtured in the ageold tradition of India, are still living examples of what India has aspired to achieve in the past. It is undesirable that the majority of the scholars of the indigenous tradition have failed to reach the standard required. But of the very few who still embody the ideal in their character and achievements, Pandit Sukhalalji is an outstanding representative. I wish to stress some of the traits in his character as a man and as a scholar, which mark him out from the majority and place him in a class apart. Fortunately for us, even in these degenerate days, Panditji has a few companions, and fellow-members who together with him form an illustrious band.

His stupendous scholarship is too obvious. His learned editions of philosophical classics, his selections of correct readings from the mess of scribes' errors, his illuminating comments and annotations are unmistakable proofs of his mastery of the philosophical technique of the different schools of Indian thought. It is an object of admiration to scholars. Pandit Sukhalalji has set an example of learning and scholarship and insight, which is difficult to emulate. In precision of thought and speech, in the grasp of fundamentals, and in mastery of details, in the discrimination of subtle nuances of thought and expression which are apt to elude the grasp of even a careful scholar, Pandit Sukhalalji stands in the front rank. I do not know of many who can compete with him in these matters.

What, however, distinguishes him is his extensive grasp of the cultural background lying behind the different apochs of upheavals of thought. He has before his mind's eye a

clear picture of the *milieu* of Vedic, Upaniṣadic, the Buddhistic, the Jainistic and the later philosophical development, and his elucidation of the logical and psychological interrelations among these types of culture, almost compels acquiescence. What, further, has roused my admiration is his discovery of the unity in the midst of apparantly irreconcilable diversity in India's thought-movement in the past. He also has discovered for us the etimology of the diverse courses of thought. His long introductions to his editions are each a thesis, which can entitle a scholar to the highest doctorate degree of my University. They amply testify to his historical insight, which is born of objective knowledge and correct apprasal of India's thought-movements. The professional historian, who takes pride in the chronological data, should do well if he calmly studies the interconnexions of the thought-life of India in the past as has been unfolded by Panditji Real history of India can be written only by those who can understand the inner life of a people. Mere chronicle of external events is more often than not calculated to give a misleading picture. I hope and trust that the future historian of India will not shirk the labour involved in the task, and the learned contributions of Panditji will show him the way.

I cannot decide what is the strongest point in Panditji's scholarship. His mastery of the abstruse arguments of Nyāya and Mīmāṁsā is on a par with that of Buddhist and Jaina philosophy. It is difficult for me to accord the palm of superiority to this or that side. His written contributions do not represent a fragment of his learning. His knowledge of Sanskrit grammer, poetics, and *belles-lettres* has not had an opportunity for self-expression. Here the man is uncomparably greater than what his recorded contributions show. He is really versatile scholar, and his versatility is all the more astounding because of the thoroughness and depth of knowledge of the specialist in each

branch. India ought to be proud of such a man with such a capacious intellect. I am afraid that in this attempt at the assessment of his erudition and scholarship, I have not been able to do a particle of justice to the savant.

As a man he is unique. I feel puzzled when I try to compare his intellectual greatness with his moral elevation. He does not hanker after celebrity. He successfully parries all attempts of his admirers to express their appreciation of his merits. Personal honour does not appeal to him. Nobody can hope to win him by flattery, even when it is based upon genuine recognition of his worth. What he wants is the triumph of truth and love of knowledge. If a man is to be known by the company he keeps, a scholar is to be judged by the students, he has trained. Meet any student of Pandit Sukhalalji and test him and you will invariably find in him a disinterested love of knowledge. I have known from personal experience that his students are indifferent to worldly prospects and are imbued with a passion for knowledge. Such an achivement of success will not be eacily believed in the present day academic circles.

Panditji loves a life of voluntary poverty. Being a life-long bachelor, and leading a scrupulously celibate life, he has narrowed down his material needs to the minimum limit. He fails to understand why a scholar should covet money and material passessions. Sometimes his standard appears to us as too exacting. But it has conferred an inestimable privilege upon him, viz., immunity from humouring the rich, or the man in power. I wish that we could approximate to his standard even from a respectable distance.

Pt. Sukhalalji is an outspoken man. No false courtesy or sense of etiquette deters him from speaking a truth, because it may not please a rich man or an ambitious scholar who wants to win cheap-laurels. Naturally, rich man who are accustomed to approval of all their acts and fads and also easy-going scholars, scrupulously avoid him from a

distance. He will on no account lower his standard. He insists on thorough knowledge of Sanskrit and thorough study of texts in his students. He does not believe in the gathering of references, and quotations, without study of the texts in which they occur, which is regrettably the fashion among cheap researchers of our time.

As a thinker he is absolutely independent. His allegiance is always to truth, and never to a fashionable opinion. He holds brief for none and does not hesitate to champion the cause which he thinks, stands for justice and truth. He will not flatter even men of his own community by praising their system and customs beyond their due. He will not denounce other schools simply because they uphold views different from those championed by Jaina philosophers. Pt. Sukhalalji is not only in the habit of not humouring the rich but also is not afraid of criticising the custodians of Jaina faith for any remissness in their conduct or their failure to live up to the standard. It is not a matter of surprise, therefore, that neither the Jaina community nor the academic bodies have come forward to honour him in public. We know that Panditji is far above the weakness of average academic men of our class, who have a real liking for the appreciation of their scholarship. But whatever may be the attitude of the scholar himself, no excuse can exempt us from the charge of dereliction of duty, that we have failed to show our recognition of the services of a savant, to whom the immortal gratitude of the Jaina community and of the students of Indian thought is due. I must congratulate the authorities of the Jaina Āshram of Banaras Hindu University on the wisdom, though belated, for a public demonstration of their appreciation of this unostentatious scholar of whom the whole of India should be proud. Had he been born in the time of Vikramāditya, or of Bhojarājā, nothing would have been withheld from him. It is better that we have turned the corner and let us hope that this is rather a beginning

and not the end. It behoves all those who are interested in Jainology to perpetuate his memory in a fitting fashion. I may suggest one or two measures in this direction. We should endow a chair in his name in the Banaras Hindu University and should found a college bearing his sacred name. We ought to erect a statue in his honour. By these measures we can show that the present generation is capable of honouring a scholar equally with our political heroes. I know that these things are superfluous, so far as Panditji is personally concerned. He has made himself immortal by his contributions. But unless and untill we do something grand and stupendous conformably to his prodigious scholarship, we shall not be able to escape the censure from posterity of being dubbed as a generation of philistines.

From the address delivered on the occasion of unveiling the protrait of Panditji in the Pārśvantha Vidyāśrama, Banaras, April 1949.

अनयन नेता

पं० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य

'ज्ञानोदय'का सम्पादन करते समय मैंने श्रद्धेय पंडित सुखलालजीके संक्षिप्त परिचयमें 'अनयन नेता' शब्द लिखा था। सचमुच पंडितजीका किसीने अपने पीछे नयन नहीं किया, वे किसी परम्परा विश्वास या विचारके दास नहीं बने। उन्होंने उन्मुक्त मनसे, प्रत्येक विचारकी ऐतिहासिक विकासभूमि जानी और कालचक्रकी अनवरत परिवर्तनधारामें उस विचारकी शाश्वत रूढताकी थाह ली। मनुष्यको पूर्वजन्मके कर्मबन्ध जो भी रहते हों, पर इस जन्ममें वह माता-पिता, कुटुम्ब, गुरु, शिक्षक, समाज आदिसे कुलाचार, धर्माचार, समाजाचार और देशाचार आदिके नाम पर जो प्राप्त करता है वे भी कम नहीं हैं। इन्हींकी पकड़ और जकड़से उसकी अन्तरात्मा अपना स्वत्व खोकर जडप्राय और यन्त्रारूढ जैसी बन जाती है। संस्कृतिके नाम पर इस नवनीतसम बालकको सब अपने अपने ढांचे और सांचेमें ढालनेका संगठित प्रयत्न करते हैं। जो आता है, शिक्षा दीक्षा और संस्कारके रूपमें इसके मस्तिष्करूपी कोरे कागज पर अपने निशान बना देता है। मनुष्य जब बालिग होता है और कुछ सोचने-समझने लायक होता है, तो ये ही अगृहीत और गृहीत संस्कार उसके सामने खड़े हो जाते हैं। एक तो उसकी सोचने-समझने और करनेकी दिशा ही इन बद्ध संस्कारोंकी धारामें इतनी जकड़ी होती है कि उसे दूसरी बाजूके स्वतन्त्रभावसे विचारका अवसर ही नहीं आता। कदाचित् काललब्धि आ गई और इस प्रकारके सत्संग आदि मिल पाये तो ये इस जन्मके सारे बन्धन अपने पूरे बलसे उसकी सांसको ही रूँध लेते हैं। ऐसी ज्ञात-अज्ञात सहज या सांस्कारिक परिस्थितियोंमें बिरले ही स्वयंबुद्ध होकर उन बन्धनोंकी जटाजालसे अपने जीवनको मुक्त कर ऊपर उठ पाते हैं। मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं है कि पंडितजी उन विरल साधकोंमें हैं जिन्होंने अपनी पूरी अन्तःशक्तिसे इस दिशामें प्रयास किया है और इस बन्धनमुक्तिका आनन्द पाया है। उनके मुक्तमनसे सिद्धसेन दिवाकरका यह वाक्य कितना प्यारा और जानदार लगता है—

'मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः।'

—पुरानी कब्र पर केवल फूल चढ़ानेके लिये मैंने जन्म नहीं लिया है। इससे यदि हमारे विरोधी बढ़ते हैं तो बढ़ें।

दिवाकरकी इस ज्योतिमें वे बराबर बढ़े चले और उसका परिनिष्पन्न फल भी अपने इसी जीवनमें पा सके। उस निर्मुक्त आनन्दकी क्या उपमा हो

सकती है, जिसमें मग्न यह साधक जगत्के वैभव, यश और कीर्तिके आवरणोंके उस पार सत्यकी ज्योतिको अपने सुदृढ़ हाथोंमें थामे हुए ज्योतिसे ज्योति जलाता हुआ अनासक्त चला जा रहा है। 'चरैवेति चरैवेति 'का जीता जागता निदर्शन यह उसी ज्योतिके वल पर दृष्टि-कान्तारको पार कर अन्तिम जीवनके अमूल्य क्षणोंमें सचमुच शीतीभूत और शान्त हो नई पीढ़ीकी उषा-लालिमासे प्राण और जीवन पानेकी आशा वटोरे हुए आज भी चला ही जा रहा है, चला ही जा रहा है।

जहाँ उनके जीवनमें एक ओर यह साधना और उपादानकी अमर-ज्योति प्रज्वलित हुई है वहीं उसी परिमाणमें किसीके अन्याय और अपमानको न सहनेका तीक्ष्ण तेज भी भासमान है। वे माघके इस श्लोकको कितनी दृढ़ता और आत्मचेतनासे पढ़ते है कि सुननेवाले शवप्रायमें भी एक वार निर्भयता और चेतना भमक उठती है—

'मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजनिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः॥'

—जो दूसरेके अपमानके दुःखमें जलता हुआ सिसकता है उसका न जीना ही अच्छा है। माताको क्लेश देनेवाले उस पामरका जन्म ही नहीं हुआ होता तो अच्छा था।

स्पष्ट और सयुक्ति किन्तु नम्र शब्दोंमें अन्यायका प्रतिवाद करना पण्डितजी-का अपना स्वभाव ही वन गया है; और इस तरह एक ओर जहाँ सत्यकी साधना और न्यायकी उपासनासे उन्होंने मानवताके मन्दिरको आलोकित किया है, वहाँ असत्यका प्रतिवाद और अन्यायका निराकरण करके कंटकशुद्धि भी की है और नई पीढ़ीको उस मन्दिर तक जानेकी पगडंडी तो अवश्य ही वना दी है।

पंडितजी अन्यायके प्रतिकार या असत्यके प्रतिवादमें 'वज्रादपि कठोर' होकर भी साथी, पड़ौसी और संपर्कमें आनेवाले व्यक्तिके सुख-दुःखमें 'कुसुमादपि मृदु' हैं। कितने व्यवहारज्ञ और कोमल हृदय हैं वे इसका एक प्रसङ्ग मुझे वरावर याद है। मेरी पत्नी सुशीला एक वार वीमार पड़ी और पंडितजी उसे देखने आये, तो मैंने उसकी इच्छानुसार पंडितजीको मौसंवीका रस पीनेको निकाला। हम सवके अत्यन्त आग्रह करने पर भी पंडितजीने वह रस नहीं पिया और यही एक वाक्य कहा कि 'यह तो वीमारके लिये है।' कौन इतना सूक्ष्म विचार करता है और व्यवहाररूक्ष वनकर भी उसे निभाता है? वे अपने निश्चयके पक्के हैं। दूसरेका कमसे कम अवलम्वन लेनेकी उनकी वृत्ति इतनी पक गई है कि कभी कभी निकटके साथियोंको भी फीका लगने लगता है।

यही निरपेक्ष वृत्ति उनके जीवनका सहज परिपाक है जिसे वे अत्यन्त शारीरिक पराधीनताके रहते हुए भी बढ़ाते चले जाते हैं।

एक दिन उन्होंने अपने जीवनके आनन्दका निचोड़ बताते हुए कहा कि मेरे इतने सहज मित्र और इतनी दयामूर्ति भगिनियों का मंडल बन गया है कि उनके मनके एक मृदु कोनेमें भी स्थान बनाकर मैं अपनेको ब्रह्मानन्दीसे कम नहीं मानता। साहित्यसाधनाको वे चरम पुरुषार्थ नहीं मानते। वे कहा करते हैं कि मेरी साहित्यसाधना तो मैं अपनी परतन्त्र परिस्थितिके कारण ही इस उम्रमें चला रहा हूँ, वस्तुतः रस तो मुझे प्रत्यक्ष रचनात्मक कार्य और मानवसेवामें ही है। मैं कभी कभी अकुला जाता हूँ, पर क्या करूँ? जब जब भी खाली बैठता हूँ तो सामाजिक और राष्ट्रिय मार्गकी ही बात सदा सोचता हूँ और सदा अपनी नई पीढ़ीकी ओर आशाभरी अन्तर्दृष्टिसे देखता हूँ कि ये सामाजिक जीवनमें विकसित होकर कुछ मानवताके विकासमें योग देंगे।

उनके विचार हरक्षेत्रके लिये सुनिश्चित हैं। उनकी यह सीख हमेशा रही है कि जिस क्षेत्रमें जाओ, पूरे मन और पूर्ण शक्तिसे प्रामाणिकतापूर्वक जुटो। जब तक विद्या और साहित्यकी उपासना करनी है तब तक अन्य प्रवृत्तियोंके मार्गको समझो तो, पर उनमें चित्त न बटाओ। मैं जब 'न्याय-विनिश्चय' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' आदिका सम्पादन कर रहा था तब उन्होंने मुझे एक वाक्य कहा कि—"पंडितजी, विद्याकी गहरी उपासना करनी हो तो किसी संस्थाके संचालक न बनना और किसी पत्रके संपादक न बनना।" मैंने समझा कि पंडितजी अपनी शारीरिक परतन्त्रताके कारण शायद ऐसा कह रह हैं, पर मुझे अपने छोटेसे जीवनमें इन दोनों सत्योंका ऐसा साक्षात्कार ही नहीं हुआ, किन्तु ऐसा तात्कालिक आघातसा लगा कि मुझे पंडितजीके ये वचन 'उपादानको मजबूत बनाओ और जो हो निर्भयता और निरपेक्षभावसे लिखते चलो। यदि उसमें सत्य है तो प्रचारक अपने आप जुट जायँगे'—यदि मार्ग-दर्शक न होते तो उन परिस्थितियोंमें चित्तका समाधान होना कठिन था।

जैन परम्परामें सम्यग्दर्शनका बड़ा महत्त्व है और सचमुच दृष्टि स्पष्ट हुए बिना सारी प्रवृत्तियाँ निरर्थक ही नहीं अनर्थक भी हो जाती हैं। इस दृष्टिको पंडितजीने जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पूरी तरह प्राप्त किया और ज्ञानके क्षेत्रमें साम्प्रदायिक मताग्रहोंसे मुक्त हो विचार करनेकी उदार परम्पराका बीजवपन किया। सन्मतितर्कका सम्पादन उनकी बहुमुखी प्रज्ञा, बहुश्रुतत्व और उदार दृष्टिका जीताजागता उदाहरण है। दार्शनिक अध्ययनका तो वह कोश ही है।

उन्होंने समाज, धर्म और राष्ट्रके लिये समय समय पर जो निवन्ध लिखे हैं वे साहित्यकी स्थायी निधि हैं; वे स्वाध्याय और मननकी वहुमूल्य सामग्री हैं।

संयोगकी वात है कि मुझे अपने जीवनको वनाने और थोड़ी वहुत विद्यानिष्ठा और दृष्टि प्राप्त करनेमें जिनका सहारा मिला उनमें दो प्रज्ञाचक्षु ही मुख्य हैं। जव मैं सन् १९२९ में नया नया न्यायतीर्थशास्त्री वनकर अपने जन्मस्थान खुरईकी पाठशालामें अध्यापक नियुक्त हुआ तो वहींके सेठ दीपचन्द्रजीने ढेरकी ढेर चुनी हुई पुस्तकें मेरे अध्ययनके लिये सामने रख दीं और कहा—'बेटा, अव तुम इनके पढ़नेके लायक हो गये हो। दूसरे ऋषियोंने भी अपनी जीवनसाधनासे जो तत्त्वज्ञान दिया है वह भी कम महत्त्वका नहीं है।' ये अव स्वर्गवासी हो गये हैं, पर जवतक जीवित रहे तवतक वैद्यक, ज्योतिष, कुरान, वाईवल, योगवासिष्ठ, रामायण, महाभारत, दर्शनके विविध मूल ग्रन्थ आदिका वाचन सतत उस छोटीसी नगरीमें करते रहे और रातके दो-दो वजे तक यह साधक ज्ञानकी उपासनामें लीन रहता था। सन् १९३० में मैं स्याद्वाद विद्यालय, वनारसमें अध्यापक हुआ और सन् १९३३ में श्रद्धेय पं० सुखलालजी वनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक होकर आये। पहली ही भेंटमें इन्होंने अपने ज्ञानकोशकी कुंजी मुझे सौंपते हुए कहा—'पंडितजी, अभी उम्र है, साधन है, यह क्षेत्र है, जो चाहो कर सकते हो।' उन्हींके सन्मतितर्कको आदर्श मानकर न्यायकुमुदचन्द्रका संपादन प्रारम्भ किया और आठ वर्ष तक जिस ग्रन्थराशिका अवगाहन किया, सचमुच उसने और पंडितजीसे प्राप्त विचारसामग्रीने मेरी आँखे ही खोल दीं। मैं इस 'पश्यत्यचक्षुः'के जीवन्त निदर्शन, अनयन नेता और दृष्टिदाताको श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके धन्य हो रहा हूँ। उन जैसा स्वतन्त्र विचारक, सूक्ष्म चिन्तक, गभीर जीवनशोधक और अतुल मानवतोपासक युगों युगोंमें विरल होते हैं। आत्मशक्तिको वाह्योन्मुख करनेवाले ये चर्मचक्षु जैसे ही मूँदे कि उन्हें अन्तःकी सहजनिधि मिल गई। प्राचीन शास्त्रोंके अगाध पांडित्यके साथ साथ दम्भ और अहंकारके नागपाशोंसे मुक्त हो उनने मानवतास्पर्शी विचारोंका जो आकलन किया है वह उन जैसे विद्यात्माका ही विशिष्ट कार्य है। वे हमारे वीच कमसे कम 'जीवेम शरदः शतं' यानी शतक तो अवश्य पूरा करें। उनके आसपास कलि सचमुच नहीं फटकता; ज्ञानकी सुरभि ही सुरभि चारों ओर फैलती है। वे चिरकाल तक इस सुवासको वखेरते रहें।

२१–१–'५७, हिन्दू विश्वविद्यालय, वनारस

दृष्टिविहीन द्रष्टा !

श्री भंवरमल सिंघी एम.ए., साहित्यरत्न

हमारे आँखें हैं जिनसे हम हर रोज, हर घड़ी दुनियाको देखते हैं और जो छाप देखी हुई वस्तुओंकी हम पर पड़ती है, उससे हमारे मनन और चिन्तनमें बड़ी सहायता प्राप्त होती है, परन्तु हम गंभीरतासे सोचें और जीवनदृष्टि और जीवनके चिन्तनकी कसौटी पर अपने आपको कसें तो यह समझनेमें देर नहीं लगेगी कि हममेंसे बहुत कमको सच्ची जीवनदृष्टि प्राप्त हो पाती है। हम देखते हैं, पर देख नहीं पाते; हमारे आँखें हैं, पर उनकी पहुँच वहां तक नहीं है, जहांसे जीवन-आलोक आ रहा है। हम अंधे नहीं हैं, पर हमारी जीवनदृष्टि अंधी है। और पं० सुखलालजी आँखोंसे अंधे हैं, पर उनकी जीवनदृष्टि कितनी तीव्र और प्रखर है! विद्याध्ययनका वास्तविक क्रम प्रारंभ किया, उस वक्त तक तो उनकी नेत्रज्योति जा चुकी थी, परंतु दृष्टि खोकर वे तो एक महान् द्रष्टा बन गये। विचार और चिन्तनके जिन क्षेत्रोंमें और जिन क्षितिजों पर सही-सलामत आँखोंवाले नहीं पहुंच पाते, वहां तक उनकी प्रज्ञाके चक्षु पूरी तरह खुले हुए हैं और वह प्रज्ञा-दृष्टि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और मानव-जातिके हर प्रश्नकी तह तक पहुँच जाती है। और नेत्रविहीन वह दृष्टि केवल अतीतमें कारावद्ध नहीं, केवल वर्तमानमें सीमित नहीं, वह एक सच्चे समाज-द्रष्टाकी तरह भविष्यके अंतराल तक पहुँचती है। इसीलिये मैंने उनको हमेशा एक बहुत बड़ा पण्डित ही नहीं, विचारक ही नहीं, सन्त ही नहीं, युगद्रष्टा भी माना; क्योंकि मैं सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक स्पेंगलरके इस कथनको बहुत सही मानता हूँ कि 'किसी विचारककी महत्ताके मूल्यांकनकी कसौटी मेरी समझमें उसके समकालीन युगके महान् तथ्यों और प्रश्नोंके बारेमें उसकी अपनी दृष्टि है।'

स्पेंगलर ही क्यों, दुनियाके बहुत सारे दूसरे विचारकोंने भी इसी बातको सत्य माना है, एवं जोरके साथ कहा है कि जो विचारक और दार्शनिक अपने समकालीन युगकी समस्याओंको समझ नहीं पाता तथा उनको हल करनेका मार्ग नहीं बता पाता, उसके विचार सारी दार्शनिकताके बावजूद कौड़ी कामके नहीं होते; वह एक बन्द पुस्तककी भांति ही रह जाते हैं, जिसका संग्रहालयमें रखे जानेसे अधिक कोई मूल्य नहीं होता। ऐसे विचारककी आँखें जीवनके समकालीन तथ्यों और प्रश्नोंके प्रति बन्द रहती हैं। वह पंडित तो जरूर हो सकता है, पर द्रष्टा या स्रष्टा नहीं हो सकता।

पं० सुखलालजीके कायिक नेत्र वन्द रहे, पर समाज और राष्ट्रका कोई प्रश्न नहीं है जिस पर वे हममेंसे कइयोंसे अधिक न देख पाते हों। और केवल देख पानेकी ही वात नहीं, वे उन प्रश्नोंके समाधानके लिये विचार देते हैं और जिन विचारोंसे समाधान हो सकता है, उन विचारोंका अगर पुराने धर्म और शास्त्रके विचारोंसे मेल नहीं वैठता, तो वे पुराने विचारोंके कैदी न वनकर नए विचारोंके विद्रोही वन जाते हैं। वे चाहे कर्मग्रन्थकी व्याख्या करें, चाहे प्रमाणमीमांसाका विवेचन करें और चाहे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके विषयका प्रतिपादन करें, जीवनदृष्टि वही रहती है, जो युगको पहचानती है और युगकी समस्याओंके समाधानमें मदद देती है। दूसरे लोग इस सवके भाष्यकार तो हैं, पर उनके विवेचनमें यह युगदृष्टि नहीं है; इसलिए वे उन ग्रन्थोंकी व्याख्या तो कर देते हैं और वहुत पांडित्यपूर्ण व्याख्या वह होती है, पर उसमें द्रष्टा और स्रष्टाकी प्रेरक जीवनदृष्टि नहीं हो पाती। जवकि सुखलालजी प्राचीनसे प्राचीन शास्त्रका भाष्य करते हुए भी इस युगदृष्टिको सन्मुख रखते हैं, दूसरे लोग प्राचीनताकी चहारदीवारीमें चक्कर लगाते रहते हैं। इसलिये जवकि दूसरे लोग निर्दोष व्याख्याकार मात्र रह कर निभ जाते हैं, पंडितजीके भाष्यमें विचारोंकी वह प्रखरता आ जाती है जो शास्त्रके दूकानदारोंको जल्दीसे वर्दाश्त नहीं होती। वे शास्त्रोंके अनन्य भक्त और पुजारी होते हुए भी उन्हीं शास्त्रोंके भाष्यकार पं० सुखलालजीको अपनेसे अलग ही नहीं, विरोधी और विद्रोही मानते हैं। हालांकि धर्म और शास्त्रका भी उन्होंने जितना उद्धार किया, उतना और किसीने नहीं किया, परंतु उन्हींको सवसे ज़्यादा विरोध और निन्दा या लांछनाका शिकार वनना पड़ा है, परंतु पंडितजीके खुदके ही शब्दोंमें, 'जव स्वच्छ दृष्टिसे कुछ कर्तव्य सूझता है, तव वह विना किसीकी खुशी या नाराज़ीका ख्याल किए उसकी ओर दौड़ता है। वह केवल भूतकालसे प्रसन्न नहीं होता; दूसरे जो प्रयत्न करते हैं, उन्हींकी तरफ़ वैठे देखना पसन्द नहीं करता।.... उसका सिद्धान्त यही रहता है कि धर्मका नाम मिले या न मिले, किसीके लिये भी सर्वहितकारी एवं सर्व-कल्याणका ही कार्य करना चाहिए।'

यह सिद्धान्त और इसके आधार पर, वनी हुई जीवनदृष्टि ही पंडितजीके जीवनका सर्वस्व रहा है। उन्होंने अपने वारेमें लिखते हुए ठीक ही कहा है— 'इस दीर्घकालीन शास्त्रीय और व्यावहारिक कार्यके यज्ञके केन्द्रमें तो उत्कट जिज्ञासा एवं सत्यशोधनकी वृत्ति ही रही है। इसीकी प्रेरणासे मुझे अनेक सत्पुरुषोंसे मिलनेका सौभाग्य मिला, इसीने मुझे पन्थ अथवा सम्प्रदायके संकुचित

घेरेसे वाहर निकाला, इसीने मुझे अनेक तरहकी पुस्तकोंका परिचय कराया, इसीने मुझे अनेक भाषाओंसे जानकारी प्राप्त करनेके लिए प्रेरित किया। इसीने मुझे मेरी असुविधाओं आदिका कभी भान नहीं होने दिया। इसीनें मुझे अनेक सहृदय, उदार और विद्वान मित्रोंसे मिलाया, इसीने मुझे छोटे-वड़े कई विद्याकेन्द्रोंकी यात्रा करनेका अवसर दिया। विशेष तो क्या, इसीनें मुझे वृद्धत्वमें भी यौवन दिया और अद्यावधि जीवित रखा है।' और इसी दृष्टि और वृत्तिने हमें पंडितजीके प्रति हमेशा आकर्पित और श्रद्धावनत रखा हैं। समाजका, राष्ट्रका या व्यक्तिगत जीवनका किसी भी तरहका प्रश्न हुआ, हम उसे लेकर उनके पास पहुँच गये और उन्होंने समस्त पहलुओंसे उस पर विचार कर रास्ता वताया और वह रास्ता सर्वथा निरपेक्ष विचारके आधार पर वताया। उदाहरणस्वरूप, एक दिन मैंने उनसे जन्म-निरोधकी वैज्ञानिक विधियोंके संवन्धमें भी पूछ लिया। मेरे एक साथीने कहा कि इस प्रकारका प्रश्न पंडितजीसे पूछना सरासर तुम्हारी हिमाकत है; पर मैं वर्षोंसे पंडितजीको देखता एवं जानता आया हूँ। इस वारेमें उनके विचार जानना चाहता था। 'जैनदृष्टिसे ब्रह्मचर्य पर विचार' नामक उनका लेख पढ़ चुका था। पंडित-जीनें कितना स्पष्ट उत्तर दिया। उन्होंने कहा—'अधिक वच्चे पैदा होनेसे एक तो वीर्य-क्षय होता है और दूसरे समाजका क्षय होता है। ब्रह्मचर्यसे दोनों क्षय वच जाते हैं, परंतु जव वह संभव न हो तो संतति-निरोधके साधनोंसे कमसे कम सामाजिक क्षयको रोकनेका प्रयत्न तो करना ही चाहिये।'

इसी प्रकारसे कई अनेक प्रश्नों पर पंडितजीकी सुलझी हुई व्यापक दृष्टि हम देख चुके हैं। रोमाँ रोलाँने एक दिन कहा था—'अपनी दृष्टिको व्यापक वनाओ, नहीं तो तुम जो कुछ सोचते हो, सव नष्ट हो जायगा। संसारके समस्त नये और स्वतन्त्र विचारोंको ग्रहण करो। आज तुम अपना घेरा वनाकर वैठे हो और उसमें तुम्हारा दम घुट रहा है। उस घेरेमें गौरव चाहे जितना हो, पर वह जड़ वन गया है। उस घेरेको तोड़कर वाहर आओ और खुली हवामें सांस लो।'

पंडितजीने अपने लेखनमें वारवार 'प्रत्यक्षसिद्ध वैज्ञानिक कसौटी', 'निष्पक्ष ऐतिहासिक दृष्टि' और 'उदार तुलनात्मक पद्धति'का उल्लेख किया है। इस दृष्टिविहीन द्रष्टाकी यह दृष्टि कितनी अभिनन्दनीय है! व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सवके कल्याणकी समन्वित साधना पंडितजीका इष्ट एवं अभिप्रेय है और उनका सारा अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन एवं मनन इसी लक्ष्यको संमुख रखकर हुआ है। इस लक्ष्यको और इस लक्ष्यके पथिकको हम वारंवार श्रद्धापूर्वक अभिनन्दन अर्पित करते हैं।

ता. १३-१०-५६, कलकत्ता

प्रतिभामूर्ति पं. सुखलालजी

श्री. अगरचन्द नाहटा

भारतीय दर्शनके महान विद्वान् और मौलिक चिन्तक व लेखक पं० सुखलालजीकी प्रतिभाका सबसे पहला परिचय मुझे उनके 'पंचप्रतिक्रमण' और 'कर्मग्रन्थ' ४ भागोंके हिन्दी अनुवादसे मिला। मुझे छोटी उम्रसे ही धार्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन और यथाशक्ति धार्मिक क्रियाकाण्डों और सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारनेकी रुचि रही है। स्कूलमें धार्मिक अभ्यासमें प्रतिक्रमणके पाठ कंठस्थ तो कर लिए और यदा कदा सामायिक, प्रतिक्रमण भी कर लेता था; पर वे पाठ प्राकृतमें थे, इसलिये उसके अर्थ व भाव जाननेकी उत्कंठा लगी रहती थी। सं० १९८३-८४ के क़रीब मैंने जब पं० सुखलालजीके पंचप्रतिक्रमणका हिन्दी अनुवाद देखा तो मुझे बहुत खुशी हुई और इससे पहले प्रतिक्रमणके जितने भी गुजराती व हिन्दी अर्थ और भावार्थ पढ़नेको मिले उन सबसे पंडितजीवाला संस्करण मुझे बहुत उच्चकोटिका लगा। इसी समयके आसपास मैं कलकत्ता व्यापारिक शिक्षाके लिये गया, तो मुझे मेरे मित्र मोहनलाल नाहटा या अन्य किसीसे ज्ञात हुआ कि पंडितजी बहादुरसिंहजी सिंघीके यहाँ पधारे हुए हैं। हम उनसे मिलनेके लिये गये। ऐसा प्रसंग कलकत्तेमें २-३ बार मिला। अनेक व्याख्यान सुने, उनसे बातचीत भी की, तो उनकी असाधारण प्रतिभा और पांडित्यका परिचय मिला। एक बार ज्ञात हुआ कि पंडितजी सिंघीजीके यहाँ 'आनन्दघन चौबीसी' या पदोंका विवेचन किया करते हैं, पर मुझे उनका वह विवेचन सुननेका मौका नहीं मिला।

सं० १९८४ की वसंतपंचमीको हमारे गुरु श्री कृपाचन्द्रसूरिजी बीकानेर पधारे। उसी समयके आसपास पं० सुखलालजीके हिन्दी अनुवादके साथ चारों कर्मग्रन्थोंको पढ़नेका मौका मिला। उसकी प्रस्तावना आदि बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगी। एक प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति जैन धर्मका इतना गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर उसे सरल हिन्दी भाषामें इतने अच्छे ढंगसे अपने और ग्रन्थकारके भावोंको व्यक्त करता है, यह देखकर उनके प्रति श्रद्धाका भाव जगा व उनके पांडित्यकी गहरी छाप सदाके लिये दिल पर अंकित हो गई। फिर तो गुजरातीमें लिखे गए उनके कई लेख 'पुरातत्त्व' आदिमें पढ़नेको मिले। इस तरह उनका प्रभाव मेरे पर दिनों दिन गहरा होता गया।

पंडितजीके विरोधी मुझे उनके सम्बन्धमें विपरीत बातें भी कहते थे, पर मेरे पर जो उनका गहरा प्रभाव पड़ चुका था उसमें उससे कमी नहीं आई।

मैंने उन विरोधियोंकी सदा उपेक्षा की। गुण-ग्रहणकी वृत्ति मेरेमें सदा अच्छी मात्रामें रही है। किसीके अवगुणोंको जानने व सुननेकी इच्छा उतनी नहीं रहती; पर किसी व्यक्तिके गुण और विशेषताओंकी ओर मेरा झुकाव बहुत शीघ्र हो जाता है।

फिर तो मैं पंडितजीके लेख और ग्रन्थ, जिस किसी पत्रमें या जहांसे प्रकाशित होते प्राप्त करता और उन्हें पढ़कर ज्ञानवृद्धि करनेका प्रयत्न करता रहता। उनके व पं० बेचरदासजीके द्वारा संयुक्त रूपसे संपादित 'सन्मतितर्क टीका'के संस्करणकी प्रशंसा तो बहुत सुनी थी, पर संस्कृतका मेरा इतना ज्ञान न होनेसे मैं उनका स्वयं अनुभव न कर सका, पर जब गुजरातीमें सन्मतितर्क उनके विवेचनके साथ निकला तो उसकी प्रस्तावना ही पढ़कर मुझे लगा कि इस ग्रन्थके टीकावाले संस्करणमें उन्होंने कितना श्रम किया है! शुद्ध पाठके निर्णय और अर्थके गांभीर्य तक पहुँचनेमें उनकी चिन्तनशक्तिने कमाल किया है। तत्त्वार्थके हिन्दी विवेचन और 'वेदवादद्वात्रिंशिका'के पंडितजीके विवेचनको पढ़कर मुझे बहुत आनन्द हुआ। सिद्धसेन दिवाकरकी गांभीर्यपूर्ण द्वात्रिंशिकाओं आदिके हार्द तक पहुँचनेमें पंडितजी जैसे प्रतिभामूर्ति ही सफल हो सकते हैं।

अनेक बार अपने प्रश्नोंका सुन्दर समाधान भी पंडितजीसे पाया। और अपने मित्र व मौलिक प्रतिभासम्पन्न श्री. शुभकरणजी बोथरा आदिको भी पंडितजीके पासमें ले गया। उन सभीको बहुत सन्तोष हुआ। पंडितजीकी सूझबूझ और चिन्तन-शक्तिका अनेक बार परिचय मिला। उनके शिष्य पं. दलसुखभाई, हीराकुमारी आदिकी प्रतिभा देखकर भी प्रसन्नता हुई। उनके पास जो भी गये व रहे उन्होंने उन्हें अच्छे रूपमें तैयार कर दिया। अहमदाबादमें मैं उनसे २-३ बार मिला और उनसे छात्र व छात्राएँ लाभ उठा रही हैं यह देख मुझे बहुत सन्तोष हुआ। उन्होंने लिखा भी काफ़ी है और प्रारम्भसे ही उनका लेखन सुचिन्तित और ज्ञानवर्द्धक रहा है। नये नये विचार उनके सामने आते रहते हैं और वे गम्भीरतासे उन पर विचार कर पचाते रहते हैं। उनका शास्त्र-श्रवण भी बहुत विशाल है। जैन-ग्रन्थों तक सीमित न रहकर उन्होंने भारतीय वैदिक और बौद्ध ग्रन्थोंका भी श्रवण कर उनके रहस्यको पा लिया है और उसे विशाल और व्यापक दृष्टिसे ही अपनी चिन्तनप्रणालीके साथ सभी लेखों और ग्रन्थोंमें व्यक्त किया है। प्रमाणमीमांसा, ज्ञानबिन्दु आदिकी टिप्पणियां उनके गंभीर अध्ययन व विशाल ज्ञानाभ्यास और सुचिन्तित लेखनके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।

संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि प्राचीन भाषाओंके साथ हिन्दी और गुजराती पर इनका समान रूपसे अधिसार है। बीचमें जब यह सुना कि ६० वर्षकी उम्र होने पर भी वे अंग्रेजीका अभ्यास कर रहे हैं तो बहुत आश्चर्य हुआ। अब भी उनकी नित्य नया नया ज्ञान ग्रहणकी प्रवृत्ति सूखने नहीं पाई है। 'जो कुछ पढ़ा गया वही बहुत है' ऐसा विचार न करके जहाँ तक जीते हैं निरन्तर ज्ञानोपासना और ज्ञानवृद्धि करते रहना ही उनकी जीवन-साधना व मंत्र है। प्रज्ञाचक्षुकी अवस्थामें जिस तमन्ना, साधना व अध्यवसायसे इतना महान ज्ञानसंचय किया उसकी शत शत बलिहारी है!

सौभाग्यवश ७५ वर्षकी उम्र होने पर भी आज उनमें युवकों-सा उत्साह है, संयमी और अप्रमादी जीवन है, स्वयं सीखते और दूसरेको सिखाते रहनेकी प्रवृत्ति निरन्तर चालू है। उनके नये नये शिष्य और शिष्याएँ अच्छे रूपमें तैयार हो रहे हैं। उनकी स्मृति और शक्तिमें शैथिल्य नहीं आ पाया, जिससे अभी उनसे बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है, इस आशासे मेरे हृदयमें हर्ष हिलोरे ले रहा है।

पंडितजीका सम्मान अभी राष्ट्रभाषा प्रचार समितिने किया और अब अभिनन्दन समारोह भी शीघ्र ही होने जा रहा है। पर ये तो हम लोगोंके आदर और भक्ति के सूचक हैं। पंडितजीका सम्मान तो भारतके नामी विद्वानोंने किया है। जो भी उनके ग्रन्थों और लेखोंको पढ़ते हैं और उनके संपर्कमें आते हैं उनका मस्तक पंडितजीके प्रति नत हुए बिना नहीं रहता। आनेवाली पीढ़ियोंसे उनका महत्त्व और भी अधिक प्रकाशमें आयगा; और उनका मौलिक लेखन और सम्पादन अनेक व्यक्तियोंको लम्बे काल तक मार्ग-प्रदर्शन करता रहेगा।

अन्तमें यह शुभाशा रखता हूँ कि पंडितजी जैसे प्रतिभामूर्ति हमारे समाजमें निरन्तर उदित होती रहे और जैन विद्वानोंने जो भारतीय साहित्यके समुत्थानमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है वह कार्य और भी आगे बढ़ता रहे। पण्डितजीकी दीर्घायुकी मंगल-कामना करता हूँ।